[illegible]

आख्यायिकाओंकी मणि-माला हो या वैदिक साहित्यका अनुशीलन; भगवान् महावीरके समवशरणकी झाँकी हो या पौम्पेईकी ध्वंसलीलाका आँखों-देखा हाल; वाल्मीकिके कृतित्वका मूल्यांकन हो या शेक्सपियरके पात्रोंकी आत्म-स्वीकृति; प्रणयके भविष्यकी झाँकी हो या विज्ञानके चरण-चिह्नोंका अंकन—सब रचनाओंके कथनमें अनोखी पैनी दृष्टि है और शैलीमें सहज मोहकता। विषयकी इतनी विविधता और शैलीके इतने सफल प्रयोग, इस एक ही पुस्तकमें पाठकको अनायास प्राप्त हैं। 'कागजकी किश्तियाँ' इसीलिए एक विशेष कृति है।

कागज़की किश्तियाँ

●
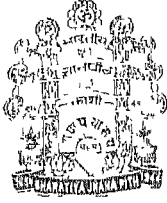
ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी-ग्रन्थाङ्क—१२३

काग़ज़ की किश्तियाँ

लक्ष्मीचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

दो शब्द

काग़ज़की किश्तियाँ बना-बनाकर बालक जब नदीकी धारामें छोड़ते हैं तो वे अच्छी तरह जानते हैं कि थोड़ी दूर जाकर ये किश्तियाँ या तो किसी भँवरमें पड़कर विलीन हो जायेंगी या लहरोंकी थपकियोंमें सदाके लिए सो जायेंगी। वे आशंकित नहीं होते, विचलित नहीं होते। किश्तियोंका एक क्षण का सन्तरण ही उनके कृतित्वको सार्थकता दे जाता है।

कालकी अनादि-अनन्त धारामें ये 'काग़ज़की किश्तियाँ' यदि अतीत और वर्तमान युगके प्रवाहको आत्मसात् करके कुछ क्षणोंके लिए बह सकें तो इनका कृतित्व सार्थक हो जाये।

इन रचनाओंमें आख्यायिकाओंकी माला वह है जो 'यथा-गत'के नामसे 'ज्ञानोदय'के लिए मैंने पिरोयी थी। इनके सूत्र परम्पराओंके हाथों बँटे गये हैं। भगवान् महावीरके सम-वशरणकी झाँकी हो या पौम्पेईकी ध्वंसलीलाका 'आँखों-देखा' हाल; वाल्मीकिके कृतित्वका अनुशीलन हो या शेक्सपियरके पात्रोंकी आत्म-स्वीकृति; प्रणयके भविष्यकी झाँकी हो या मनुके विधानका अङ्कगणित; या फ़ौरेन एक्सचेंजका चक्रव्यूह—सभी रचनाओंकी शैली अलग-अलग है। वह इसलिए नहीं कि मैंने शैलियोंके प्रयोगका सायास प्रयत्न किया है, बल्कि इसलिए कि हर बातने अपना ढंग और हर भावने अपनी अभिव्यक्ति स्वयं खोज ली है।

काग़ज़की किश्तियोंके इस खेलसे यदि आपका भी मनो-रंजन हो सका तो मेरे लिए इस कृतित्वका आनन्द कई गुना बढ़ जायेगा।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

विषय-क्रम

तथागतकी आख्यायिकाएँ

इतिहास और कल्पना

अध्ययन और मनन

काग़ज़की किश्तियाँ

'यथागत' की आख्यायिकाएँ

यज्ञकी अञ्जलि

ऋषिने और ऋषि-पत्नीने पन्द्रह दिनतक तन्मय होकर यज्ञ-अनुष्ठान किया था। आज अनुष्ठानका अन्तिम दिन था और मध्याह्न होते-होतेतक घीमें सने हविष्यान्नकी अन्तिम आहुतिकी वेला आ गयी थी। समूची श्रद्धाको सँजोकर गद्गद भावसे ऋषिने अन्तिम अञ्जलि अग्निमें समर्पित की और, जैसी कि उनकी साध थी, सोचा अब अग्निकी अन्तिम घृत-तृप्त शिखाके साथ आत्मामें परिपूर्ण ज्ञानकी ज्योति उदित होगी और साधनाका अन्तिम श्रेय प्राप्त हो जायगा! किन्तु अन्तिम अञ्जलिमेंसे न हविष्यान्न नीचे सरका, न कोई ज्योति प्रगट हुई—उलटा यह हुआ कि ऋषि-दम्पतिकी आँखोंमें धुआँ भरने लगा, आँसू चूने लगे। यह क्या? ऋषिने तीन बार

समग्र मनोयोगसे ध्यान किया और अन्तिम अञ्जलि समर्पित करनेका प्रयत्न किया किन्तु अञ्जलि निश्चेष्ट रही, आराम पूरा होता गया, साधना-का वेग पीछे हटता गया। ऋषिने हताश होकर ऊपर देखा, जैसे भगवानको याद कर रहे हों—'हे प्रभु, यह कैसी विडम्बना ?'

तभी आकाशवाणी हुई "ऋषिवर, यह जो तुम्हारी दायी ओर विशाल बट-वृक्ष है उसकी एक कोटरमें अपने नवजात शिशुको छोड़कर पक्षियोंका जोड़ा रोज उड़ान भरने और मनोनुकूल आहारकी खोजमें बाहर निकल जाता है। पीछेसे तुम्हारे यज्ञकी शिखा जोर पकड़ती है, धुआँ आता है और पक्षियोंका कोमल-प्राण शिशु बिलबिला उठता है। आज तुम्हारे यज्ञकी पूर्णाहुतिके समय उस शिशुकी वेदना उग्रतम हो उठी है। तुम्हारा यज्ञ इसीलिए निष्प्रयोजन हो रहा है।"

ऋषि-दम्पति अधीर होकर उठ खड़े हुए। ऋषिने बटपर आरोहण किया, पक्षीको उठा लाये और पत्नीकी गोदमें लाकर रख दिया। ऋषि-पत्नीने प्यारसे नन्हे पक्षीको हृदयसे चिपटा लिया। अब ऋषि-दम्पतिकी आँखोंसे आँसू झर चले। यज्ञकी अन्तिम अञ्जलि यही आँसू थे। यज्ञ सार्थक हुआ।

• •

मुक्तिका मूल्य

महापराक्रमी महाराज बिम्बसार धर्मके प्रति उत्सुक हो चले थे। भगवान महावीरसे प्रतिबोध पाकर वह इहलोकके साथ-साथ परलोक भी सुधारना चाहते थे। तभी भगवानने एक दिन श्रोताओंको बताया कि बिम्बसार जो कर्मबन्ध कर चुके हैं उसके परिणामस्वरूप उन्हें नरक जाना होगा। बिम्बसारने सुना तो विकल हो उठे। निश्चय किया—"जैसे भी हो, नरककी रेखा अपने भालपरसे पोंछकर ही छोड़ूँगा। मेरे पास इतना बड़ा राज्य है, इतना बड़ा कोष है, महान् वैभव है; सब भगवानके चरणोंमें चढ़ा दूँगा और मोक्ष माँग लूँगा।"

भगवान महावीर विपुलाचलपर विराजमान थे। बिम्बसार वहाँ पहुँचे, माथा नमाया और अपना निश्चय कह सुनाया।

तीर्थंकरके अधरोंपर स्मित-रेखा आयी। उन्होंने देख लिया कि 'अहम्'ने ही यह रूप धारण किया है। "मैं दान कर सकता हूँ, दान करूँगा"—यह गर्व जहाँ है, वहां मोक्ष कैसा ? महाराजको आदेश हुआ—"अपने राज्यके पुण्य-श्रावकसे एक सामायिकका फल प्राप्त करो। तुम्हारे उद्धारका यही उपाय है।"

महाराज पुण्य-श्रावकके समीप पहुँचे। उनका यथोचित सत्कार हुआ। बड़ी कातरतासे महाराजने कहा—"श्रावकश्रेष्ठ ! मैं याचना करने आया हूँ। मूल्य जो माँगोगे, दूँगा; किन्तु मुझे निराश मत करना।"

महाराजकी माँग सुनकर श्रावकने कहा—'महाराज ! सामायिक तो समताका नाम है। राग-द्वेषकी विषमताको चित्तसे दूर कर देना ही सामायिक है। यह कोई किसीको दे कैसे सकता है ? आप उसे खरीदना चाहते हैं; किन्तु सम्राट् होनेके अहंकारको छोड़े बिना उसे आप उपलब्ध कैसे कर सकते हैं ?"

महाराज सामायिक खरीद नहीं सके किन्तु उसकी उपलब्धिका रहस्य वे पा गये। समत्वमें स्थित होनेपर उनको कोई अन्य मुक्त करे—यह अपेक्षा ही कहाँ रह गयी !

सदानीरा करुणा

जेठ मासकी ज्वाला-सी ऋतु थी। मध्याह्नकी धरापर पाँव रखना दूभर था। कपिलवस्तु और कोलिय नगरोंकी सीमाओंको विभाजित करने-वाली नदी रोहिणीकी धार क्षीण होकर एक पतली तरल श्वेत रेखा बन गयी थी। दोनों नगरोंके श्रमिकों और किसानोंमें विवाद उठ खड़ा हुआ था। कपिलवस्तुके श्रमिक बाँध बनाकर रोहिणीका जल अपने लिए सुरक्षित कर लेना चाहते थे और कोलिय नगरके श्रमिक उसी उपाय द्वारा अपने लिए। दोनों नगरोंमें ठन गयी। विवाद क्षत्रियों, सामन्तों और सेनापतियों तक पहुँच चुका था। एक दिन प्रातःकाल दोनों ओरके सामन्त शारीरिक सामर्थ्यके आधारपर विवादका निर्णय करनेके लिए आ डटे। आवेशमें

लोग भूल गये थे कि अहिंसा और जीवदयाका उपदेश देनेवाले भगवान बुद्ध कहीं आसपास ही विराजमान हैं।

तभी दोनों ओरके जन-समुदायने देखा कि तथागत चारिकाके लिए रोहिणीतटपर आ पहुँचे हैं। उत्तेजित क्षत्रियोंसे अमिताभने विवाद और उत्तेजनाका कारण जानना चाहा, किन्तु सब चुप, सब लज्जित! तब दोनों ओरके श्रमिकोंके अगुआ बोले: "भन्ते, रोहिणीका जल कौन ले, कौन न ले, विवाद इसी बातका है।' करुणाकी स्मितमें घुलामिला एक प्रश्न भगवान्‌के ओठोंपर प्रस्फुटित हुआ: "रोहिणीके उदकोंका क्या मूल्य है, महाराजो? अबतक किस भावसे क्रय करते रहे हैं; अब क्या भाव है?" सब चुप। अन्तमें श्रमिक बोले: "पानीका मूल्य कुछ नहीं है, भन्ते! पानी तो हम सदा बिना मूल्य लेते रहे हैं।" "तब फिर आप सोचो, महाराजो!" शास्ताकी धर्मवाणी सुनायी दी, "प्रकृतिमें बिना मूल्य मिलनेवाले या पृथ्वी खोदकर श्रमसे सहज प्राप्य उदकके लिए आप इन क्षत्रियोंका रक्त बहाना चाहते हैं! यह क्या उचित है? क्या मूल्यहीन उदकको प्राप्त करनेके लिए सैनिक-मानवोंका अमूल्य रक्त आप बहायेंगे?" एक क्षणमें ही दोनों ओरके सेनापति, सैनिक, श्रमिक, नागरिक एक साथ भगवान्‌के चरणोंमें नत-मस्तक हो गये। सुगतकी वाणी झर रही थी: "शत्रुओंमें अशत्रु होकर जीना परम सुख है। बैरियोंमें अबैरी होकर रहना आनन्दमय है।" उस समय जनसमुदायके नेत्रोंमें झलकती बूँदोंपर सहस्र-सहस्र रोहिणियाँ न्योछावर थीं।

● ●

आत्माके जौहरी

रायचन्द भाई उच्चकोटिके आत्म-दर्शी श्रावक थे। बम्बईमें जवाहरात-का व्यापार करते थे। जवाहरातका व्यापार और निस्पृहता! असाधारण बात है, पर अनहोनी नहीं। एक बार रायचन्द भाईने एक अन्य व्यापारी से सौदा किया कि एक निश्चित अवधिके भीतर वह व्यापारी रायचन्द भाईको दो-ढाई लाख रुपयेके अमुक-अमुक नग अमुक-अमुक दरपर देगा। व्यापारिक पद्धतिके अनुसार लिखा-पढ़ी हो गयी, बात पक्की हो गयी। तभी ऐसा हुआ कि जवाहरातके दाम दिन-प्रतिदिन तेजीसे बढ़ने लगे। व्यापारी घबराया तो बहुत किन्तु साथ ही उसे यह भी आशा रही कि अवधि पूरी होते-होते बाजार एक बार गिरेगा जरूर और वह घाटेसे बच जायेगा।

पर दाम न गिरे और माल चुकानेका समय आ पहुँचा। पूरे पचास-साठ हज़ार रुपयेका घाटा! व्यापारी अब करे तो क्या करे? आखिर हिम्मत करके वह रायचन्द भाईके पास पहुँचा। बोला : "रायचन्द भाई, बाजारका हाल देख ही रहे हो। चिन्ता मुझे खाये जा रही है, थोड़ा धीरज धरो।" 'धीरज क्या धरूँ', रायचन्द भाई बीच ही में बात काट कर बोले, "चिन्ता-के मारे मैं भी कम दु:खी नहीं। सोचता था खुद तुम्हारे पास जाऊँगा और........" "नहीं भाई, बस मुझे दो दिनका समय दे दो, मैं बाजार भावके अनुसार घाटेका रुपया चुका जाऊँगा।"

किन्तु रायचन्द भाई तो निश्चय करके बैठे थे, बोले : "भाई फ़ैसला तो मैं अभी तत्काल करूँगा। जो चिन्ता हम दोनोंको खा रही है, वह दो दिन भी और क्यों चले?" व्यापारी हैरान था कि रायचन्द भाई ऐसे आग्रही तो कभी भी न थे। कुछ खीझ कर ही उसने कहा : "जो आपको दो दिनका भी धीरज नहीं तो मैं अभी जाकर प्रबन्ध करता हूँ। भगवान सहायता करेंगे।" रायचन्द भाई मुसकराये, बहीमें-से एक कागज़ निकाला और बोले : "देखो, चिन्ताकी जड़ है यह दस्तावेज जिसमें तुमने माल चुकानेका वायदा किया है। मैं इसे ही समाप्त किये देता हूँ।" यह कहते हुए उन्होंने दस्तावेजके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। आश्चर्य और कृतज्ञताके भावावेशने व्यापारीको मूक कर दिया। उसकी आँखोंसे झरझर आँसू गिरने लगे। रायचन्द भाईने गद्गद होकर उसे कण्ठसे लगाया और कहा : "तुम किंचित् भी यह न समझना कि मैंने तुम्हारे ऊपर कोई उपकार किया है। मैंने केवल अपना आत्मदाह दूर करनेके लिए यह किया है। रायचन्द दूध पीता है, आदमीका खून नहीं पीता।"

आश्चर्य नहीं जो महात्मा गाँधीने रायचन्द भाईको अपना गुरु बनाया था।

● ●

फूल : शूल

आरम्भमें ब्रह्माने नरको बनाया। उसके उपरान्त जब वह नारीका निर्माण करने बैठे तो देखा कि ठोस सामग्रीका नितान्त अभाव है। इसलिए ब्रह्माने :

भ्रमरावलिसे पंक्ति-बद्धता ली, सूर्य-किरणोंसे उल्लासमय गति ली, बादलोंसे अश्रुपात लिया, वायुसे चंचलता ली, शशसे भीरुता ली, मयूरसे दर्प लिया, वज्रसे कठोरता ली, मधुसे मिठास ली, सिंहसे क्रूरता ली, अग्नि-से उष्णता ली, हिमसे शीतलता ली, मैनाओंसे मुखरता ली, कोकिलाओंसे कूजन लिया, बगुलेसे मायाचार लिया, चक्रवाकसे प्रणयकी आस्था ली, और इन सब पदार्थोंको मिलाकर ब्रह्माने नारीका निर्माण किया और फिर उसे नरको सौंप दिया।

आठ दिन बाद नर ब्रह्माके पास आकर बोला—"भगवन् ! आपने जिस प्राणीको मुझे दिया उसने मेरा जीवन विषाक्त बना दिया है। उसकी वाचालता असीम है; वह मेरा सारा समय नष्ट कर देती है। वह अकारण आँसू बहाती है; सदा ही अस्वस्थ रहती है; कृपाकर उसे वापिस ले लो। ब्रह्माने नारीको लौटा लिया।

आठ दिन बाद नर पुनः ब्रह्माके पास आया और बोला : "भगवन् ! उस प्राणीको जबसे लौटा दिया है, मेरा जीवन नितान्त एकाकी और निरानन्द हो गया है। मुझे याद है, वह मेरे सामने गा-गाकर नृत्य करती थी। मैं भूल नहीं सकता, उसके कटाक्ष, उसकी लीलाएँ, उसका आलिंगन ! उसे मुझे लौटा दो।" ब्रह्माने पुनः नारीको पुरुषके साथ कर दिया।

केवल तीन दिन ही बीते कि नर ब्रह्माके पास फिर दौड़ा आया। बोला—"प्रभु ! समझमें नहीं आता कि बात क्या है, किन्तु अब मुझे निश्चय हो गया है कि यह प्राणी जो आपने मुझे दिया है सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक देता है। कृपाकर इससे मुझे मुक्ति दे दें।"

अब ब्रह्माको रोष आ गया। वह गर्जकर बोले : "जा, अपना मार्ग देख; और, जो तुझे सूझे सो कर।" कातर नरने प्रार्थना की : "मैं उसके साथ कदापि नहीं रह सकता।" "तू उसके बिना भी तो नहीं रह सकता"—ब्रह्माने खीझकर प्रत्युत्तर दिया।

अन्तमें नर मन-ही-मन रोता-झींकता चलता बना : "हा हन्त ! न मैं नारीके साथ रह सकता हूँ, न उसके बिना !"

—एक पौराणिक आख्यान

वासनाका भार

भगवान् बुद्धकी आदेशनाको जन-जन तक पहुँचानेके उद्देश्यसे वृद्ध आचार्य अपने तरुण शिष्यके साथ नगर-नगर, गाँव-गाँव पर्यटन कर रहे थे। एक बार मार्गमें नदी पार करनेका अवसर आ पड़ा। देखा, सुनसान घाटपर एक कमनीय तरुणी एकाकी खड़ी है। गुरु-शिष्यको देखा तो तरुणीके प्राण हरे हो गये। कहाँ मिलेगा ऐसा निर्भय सहारा? युवतीने अवलम्बके लिए याचना-भरी दृष्टिसे दोनोंकी ओर देखा। तरुण भिक्खुकी दृष्टि नीची हो गयी। किन्तु, आचार्य हैं कि एक क्षणको भी झिझके नहीं। तरुणीका हाथ पकड़ा, और कन्धेपर बैठाकर नदी पार करने लगे। आचार्यके पीछे-पीछे चलते शिष्यने देखा: कैसे गठे हुए अंग, कैसा रूप,

कैसी कनक-वल्लरी-सी देह ! सोचा, आचार्यके लिए क्या यह योग्य है ? नदीके दूसरे तटपर पहुँचे तो युवती आचार्यको नमस्कार कर अपने रास्ते चली गयी। आचार्य शान्त और गंभीर थे, पर शिष्य अधीर हो चुका था। वह बोला :

"युवतीको अपने कन्धेपर बिठा उसके लावण्यमय, सौष्ठवपूर्ण अंगोंका स्पर्श करके आपने जो अनुभूति प्राप्त की वह क्या साधुको ···" और, भिक्खु चुप हो गया।

आचार्यने शान्त भावसे मुसकराते हुए कहा : "आयुष्मान् ! वह तरुणी थी या वृद्धा; वह रूपसी थी या कुरूपा; उसके अंगोंका गठन, उसका लावण्य *कैसा था—था या नहीं; इस सबकी ओर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया।"*

आचार्य फिर बोले : "वत्स, मैंने तो एक असहाय प्राणीको नदी पार करवायी, किन्तु तुम तो एक लावण्यमयी तरुणीको अपने कन्धोंपर बराबर ढोये जा रहे हो। वासनाका उत्स स्पर्शमें हो ही नहीं सकता जब तक वह मनकी धरती फोड़ कर न फूटे। यह स्मृति-भार अशोभन है, आयुष्मान्, इससे बचो !"

● ●

पत्थरोंका मूल्य

राजाके वैभवकी चर्चा देश-विदेशमें जन-जनकी जिह्वापर थी। बहु-मूल्य मणि-माणिक्यका संग्रह और संचय उनका मनोरंजन था। अपार धन-राशि इस उद्देश्यके लिए नित्यप्रति व्यय होती थी।

एक दिन एक प्रसिद्ध महात्मा भिक्षाटन करते हुए राजमहलमें आ निकले। राजाने उन्हें भक्तिभावसे आहार दिया। महात्मा राजकुलके व्यक्तियोंको धर्मोपदेश देनेके बाद जब जाने लगे तो राजाने उनसे निवेदन किया कि वे राजकोषके रत्न-संचयको एकबार देख लें क्योंकि साधुओंके आशीर्वादसे ही वे ऐसा अद्भुत कोष बना सके हैं। महात्मा वह रत्न-भण्डार देखकर चकित हुए, और चिन्तित भी। उन्होंने जिज्ञासा की : "राजन्, सबसे बड़ा

और सबसे अधिक मूल्यवान् पाषाण इसमें कौन-सा है, बताइए तो?" राजा-ने एक मुट्ठी भरका बड़ा जाज्वल्यमान हीरा दिखाया। महात्मा किञ्चित् मुसकराये और बोले—"महाराज, मैंने इससे भी बड़े और इससे भी मूल्य-वान् पाषाण आपके राज्यमें देखे हैं, आपको उनका पता ही नहीं।" राजा लालायित होकर उन्हें देखनेके लिए चल पड़े। आदेश देते गये कि एक रथमें स्वर्ण मुद्राएँ भरकर कोषाध्यक्ष लेते आयें ताकि तत्काल वे बहुमूल्य रत्न खरीद लिये जायें।

महाराज आवेशसे भ्रमित, और दर्शक विनोदसे चकित, जब महात्माने एक जीर्णकाय, मलिन-वसना बुढ़ियाकी झोपड़ीमें जाकर उसकी चक्कीके दो पाट दिखाकर कहा—"आपके राज्यमें बहुमूल्य पाषाण ये हैं। प्रजासे कहें कि इन रत्नोंका आकर प्रतिदिन दर्शन करे।" राजा मौन खड़े रह गये। क्या समझें और क्या कहें?

महात्मा मधुरतामें भर बोले: "राजन्! इस निःसहाय बुढ़ियाकी जीविकाका एकमात्र साधन ये चक्कीके पाट हैं जिनके सहारे यह दूसरोंका आटा पीसती है और अपने प्राणोंकी रक्षा करती है। आपके हीरे-पन्ने क्या किसीके प्राण बचाते हैं? उनसे कुछ आय होती है या उनकी रक्षापर भी व्यय ही होता है? पत्थर वे भी, पत्थर ये भी। किन्तु मूल्यवान् वह जो उपयोगमें आये, जिससे किसीका हित हो। कोरा सौन्दर्य, कोरी शान किस कामकी?"

राजाकी विवेक-दृष्टि जागृत हो गई!

२

धर्मकी तुला

महातपस्वी जाजलिके दुर्धर तपकी ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। महर्षि दीर्घकालसे निश्चल, निश्चेष्ट, एकाग्र खड़े थे। शरीर लता-वृक्षोंसे आच्छादित था; जटाओंमें कोटर बनाकर पक्षियोंने अंडे दे दिये थे। अंडोंसे बच्चे बाहर आ गये, बच्चोंके पंखोंमें शक्ति आयी तो उड़कर आकाशमें, वन-प्रान्तरमें मँडराने लगे, मँडराते रहे।

तपोधन जाजलिने शिशुओंके लौटने तक तपस्या चालू रखनेका प्रण ठाना था। वे नादान शिशु कहीं भटक गये, या क्या हुआ कि एक महीनेसे अधिक हो गया और वे लौटकर न आये। अपनी अडिग तपस्यापर ब्राह्मण तपस्वी स्वयं आत्म-मुग्ध हो गये। धर्मकी कितनी बड़ी उपलब्धि थी—

नितान्त महिमामयी। तभी आकाशवाणी हुई: "जाजलि! मिथ्या है, तपस्याका यह गर्व। धर्म अभी तुमसे बहुत दूर है। धर्मका साक्षात् परिचय पाना है, तो काशीमें जाकर तुलाधार वैश्यसे मिलो।" ब्राह्मण वैश्यसे जाकर धर्मकी प्रेरणा ले? कैसा व्यंग्य है यह!—जाजलिने सोचा। किन्तु आकाशवाणीका आदेश था। वे तुलाधार वैश्यके पास, काशी पहुँचे।

तुलाधारने सहज भावसे प्रणाम किया और बताया कि वह ब्राह्मण तपस्वीकी प्रतीक्षामें ही थे—आकाशवाणीकी बात उन्हें पता थी। जाजलिने आश्चर्यमें डूबकर पूछा—"तराजू-बट्टे लिये बैठा तुम-सा एक साधारण वणिक् इतने बड़े ज्ञानका स्वामी कैसे हो गया, मुझे यही आश्चर्य है। बिना तपस्याके ही तुम्हें धर्मकी उपलब्धि हो गयी, यह दूसरा भी बड़ा आश्चर्य है। रहस्य क्या है, बतायें।"

"धर्मका रहस्य बतानेवाला मैं कौन?"—तुलाधारने विनम्र होकर कहा—"मेरी उपलब्धि तो केवल इतनी है कि मैं अपने कर्तव्यका पालन गहरी निष्ठासे करता हूँ; और मानता हूँ कि धर्म यज्ञमें नहीं, तपस्यामें नहीं, जाप-पाठमें नहीं। कर्तव्यके प्रति निष्ठा और विचार तथा आचारमें अहिंसा—बस, जिसने इतना साध लिया उसने धर्मके मर्मको पा लिया।"

नयी ज्योतिकी प्रभासे प्रफुल्ल-मन जाजलि अब कोरे तपस्वी नहीं थे, तत्त्वज्ञाता भी हो गये थे। तभी पक्षी-शावक भी लौट आये और उनकी जटापर फुदककर बैठ गये क्योंकि वे सरलता और निरभिमानताके प्रतीक थे।

● ●

तीर्थ-यात्रा

सन्तकी दीर्घ और दुःसह यात्रा समाप्त हो चुकी थी। उन्होंने गंगामें स्नान किया, देवताके दर्शन किये, पत्र-पुष्प चढ़ाये और फिर गद्‌गद कण्ठसे स्तवन गाते-गाते मन्दिरकी सीढ़ियोंपर ही सो गये। सन्तने स्वप्न देखा : दो तीर्थ-देवता आपसमें वार्तालाप कर रहे थे। एकने प्रश्न किया : "कितने यात्री इस बार आये होंगे, भला?" "एक लाखसे ऊपर ही", उत्तर मिला। "क्या सभीकी तीर्थयात्रा सफल हुई, पुण्य-फल मिला?" "पुण्यफल तो बहुत ही कम यात्रियोंको मिलेगा क्योंकि अधिकांश व्यक्तियों-के मन शुद्ध नहीं थे, आचरण सात्त्विक नहीं था। तीर्थ-यात्रा तो उनके लिए चरणोंसे भूमि नाप लेनेकी क्रिया मात्र थी।" प्रश्नकर्ता देवताने पुनः

जिज्ञासा की, "तो क्या तीर्थकी धूलि माथेपर लगाना और देवताका दर्शन कर सकना ही पर्याप्त नहीं ? इससे भी तो पुण्य-बन्ध होता है ! न होता हो, तो फिर घर-बैठे ही आदमी तीर्थ-यात्राका मनोरथ सिद्ध कर न लिया करे ?" दूसरा तीर्थ-देवता ज्ञान और अनुभवमें बड़ा था। बोला, "घर बैठे भी तीर्थ-यात्राका फल मिल सकता है यदि व्यक्तिमें इतनी सात्त्विकता और निस्पृहता हो जितनी रामू भक्तमें है जो केरलके उस छोटेसे गांवमें जूते गाँठ-गांठकर आजीविका चलाता है।" तभी सन्तका स्वप्न भङ्ग हो गया। वह सोचने लगे—"धन्य है वह रामू चमार जिसकी देवता भी प्रशंसा करते हैं। देखूँ तो सही उसमें ऐसी क्या बात है जो घर बैठे ही उसे तीर्थ-यात्राका फल मिल रहा है ?"

सन्तकी यात्रा फिर आरम्भ हो गयी। मार्गका कष्ट सहते, खोजते-ढूँढ़ते वह एक दिन रामू चमारके घर जा पहुँचे। देखा, वह जूते गाँठ रहा था और मन ही मन भगवानका नाम सुमरन करता जाता था। सन्तने रामूसे कहा, "बड़ी दूरसे आप हीके पास आया हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि आप पुण्यधाम तीर्थकी यात्रा करने क्यों नहीं गये ? पच्चीस वर्ष बाद उस तीर्थ-की यात्राका महत्तम पर्व आया है।" रामूका ध्यान भंग हो चुका था। वह उठा, सन्तके चरण छुए और विनम्र भावसे बोला, "मेरे तीर्थ तो यहीं हो गये जो आप जैसे महात्मा मेरे द्वारपर पहुँच गये। वास्तवमें, मनमें बड़ी अभिलाषा थी कि तीर्थ-यात्राको जाऊँ, कुछ पैसे भी इकट्ठे कर लिये थे, किन्तु एक घटना ऐसी घटी कि तीर्थ-यात्राको जा नहीं सका और यहीं आत्म-तोष पा लिया।" रामूने घटना यों बतायी :

"मेरी पत्नी गर्भवती थी। एक दिन उसे पड़ोसके घरसे मेथीके साग की सुगन्ध आयी। उसने मेथीका साग खानेकी इच्छा प्रकट की। मैं पड़ोसीके घर गया और पत्नीकी स्थिति बताकर थोड़ा-सा साग माँगा। पड़ोसी मेरे समान ही निर्धन था, किन्तु सूँघने और चखने लायक थोड़ा-सा साग देना कोई कठिन नहीं था, फिर भी वह संकोच कर गया। सकुचाते

हुए बोला—'रामू भइया, साग तो मैं भाभीके लिए जरूर दे देता लेकिन यह इतना अपवित्र है कि देनेको मन नहीं करता। बाल-बच्चे चार दिनसे भूखे थे, इसलिए आज ही सात मरघटोंसे मेथीकी पत्तियाँ बटोरकर साग बनाया है। अब जैसे कहो।" यह स्वप्न वार्ता कहते-कहते रामूके मुखपर विषाद और आनन्द एक साथ उभर आये। वह सन्तसे बोला, "सो महाराज, उसकी ऐसी अवस्था देखकर मैंने अपनी अण्टीसे वह सब रुपये-पैसे उसे दे दिये जो मैंने और मेरी पत्नीने पेट काटकर तीर्थ-यात्राके लिए बचाये थे। स्वामी, मुझे तो तीर्थयात्राका पुण्य घर बैठे ही मिल गया।"

अब सन्तकी समझमें भलीभाँति आ गया कि तीर्थ-देवताने रामूका उदाहरण क्यों दिया था। सन्तकी दृष्टि रामूके चरणोंपर टिक गयी और उन्होंने मन ही मन कहा—"मुझे तो दो तीर्थोंकी यात्राका फल मिल गया।"

● ●

लगनकी लौ

अपनी प्रजाके सुख-दुःखके बारेमें प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करनेके लिए सम्राट् अकबर वेष बदलकर नगरमें घूमने निकले। देखते-भालते, सोचते-विचारते जा रहे थे कि सूरजके सायेने चौंका दिया। नमाजका वक़्त आ गया था। बादशाहने इधर-उधर ताका और जब देखा कि साफ़ ज़मीनके नामपर सड़क ही नजर आ रही है, तो सड़कके किनारे ही अपना 'जाये-नमाज' (नमाज पढ़नेका कपड़ा) बिछा दिया। बादशाह नमाज पढ़ रहे थे कि एक स्त्री वहाँसे गुजरी और बादशाहके जाये-नमाजको रौंदती हुई आगे बढ़ गयी। बादशाह नमाजमें थे। जब्त कर गये। नमाजके बाद जब आगे बढ़े तो वही औरत उदास-मुँह आहिस्ता-आहिस्ता क़दम रखती हुई वापिस लौटती

दिखायी दी। बादशाहने टोका—"भलीमानस! ऐसा भी क्या नदीदापन कि नमाज पढ़ते हुए आदमीके जाये-नमाज़को रौंदती हुई चली गयी? आँखोंपर इस तरह पट्टी बाँधे, कहाँ भागी जा रही थी? बादशाहको जवाब दे।" औरतका ध्यान भंग हो गया। वह अब समझी कि माजरा क्या है। हाथ जोड़कर बोली—"जहाँपनाह, मेरा पति आज परदेशसे लौटनेवाला था। उसकी चाहमें भरी-उमँगी मैं भागी जा रही थी। अफ़सोस, कि वह आया भी नहीं और मैं यहाँ क़सूरवार बन गयी।" इतना कहनेके बाद वह खामोश हो गयी। जब बादशाह आगे बढ़ने लगे तो उसने उन्हें रोका। बोली, "हुजूर खता माफ़, एक बात पूछूँ? मैं एक मामूली आदमीके प्यारमें पागल होकर, सारी दुनियासे बेखबर, भागी चली जा रही थी; मुझे पता ही नहीं कि किसका जाये-नमाज और कौन नमाज़ी। मगर आप तो सारे जहानके मालिक अल्लाहके हुज़ूरमें आँखें बन्द किये दुआ कर रहे थे; आपको कैसे पता चला कि कोई औरत आपके पाससे गुज़र गयी है?"

बादशाहका मौन नये बोधमें मुखरित हो गया। आँखोंके आगे सहसा एक मशाल-सी जल उठी! ● ●

उपासना और भावना

अपनी भेड़ोंको स्वच्छन्द भावसे चरनेके लिए छोड़कर, जब गड़रिया पर्वतकी ऊँची शान्तिदायिनी चोटीपर विश्राम करनेके लिए बैठा तो भगवान के प्रति उसका भोला मन भक्तिसे गद्गद हो उठा। प्रकृतिका कैसा सुन्दर दृश्य था! हरियालीके बीच फूलोंकी मुसकान और चट्टानोंके बीच झरनोंका मस्तीभरा गान! गड़रियेने सोचा—"क़ुदरतका इतना बड़ा कारबार इतनी ख़ूबसूरतीसे चलानेवाले मेरे प्यारे ख़ुदाको सचमुच बहुत ज्यादा मेहनत करनी पड़ती होगी। वह थक जाता होगा और उसे नींद भी आरामसे न आती होगी। उसे चींटीकी भी फ़िक्र रखनी पड़ती है, और शहंशाह-की भी।"

गड़रियेने हाथोंकी अंजलि बांध कर आकाशकी ओर उठायी और परम पिता परमात्मासे प्रार्थना करने लगा : "ओ मेरे अच्छे खुदा, मेरे मालिक ! तू मेरे पास आ जा। तेरी मेहनतको, और तेरी थकानको, और तेरी परेशानी को मैं समझता हूँ। तू मेरे पास आ जा ताकि मैं अपने हाथोंसे तेरे पाँव दबाऊँ और तेरी थकान दूर कर दूँ। मैं तेरी बुजुर्ग दाढ़ीमें इतनी अच्छी तरह कंघी करूँगा कि एक भी जूँ न रहे। मैं तुझे गर्म झरनेमें गुसल कराऊँगा और मुलायम कम्बलपर सुलाऊँगा। मैं तेरा गुलाम हूँ। मैं तुझे तरह-तरहसे खुश करूँगा। तू आ जा, मेरे बहुत ही प्यारे खुदा !"

संयोगकी बात। उसी समय हज़रत मूसा पहाड़की उसी चोटीसे गुज़र रहे थे और प्रार्थना करनेके लिए सबसे सुन्दर स्थानकी खोजमें थे। गड़रियेको जो इस तरह कुछ बोलते सुना था तो ठिठक गये थे। गड़रिया जब प्रार्थना कर चुका तो हज़रत मूसा उसके पास आये और बोले—"अरे नादान, तूने खुदाकी इबादत की है या उसे इन्सानियतके दर्जेपर उतारकर उसकी तौहीन की है ? याद रख, खुदा आदमीकी तरह नहीं है कि वह थकता हो, और परीशान होता हो। न उसके दाढ़ी है, न जिस्म, न हाथ-पाँव। वह न पैदा होता है, न मरता है, न किसीसे अपनी गुलामी करवाना चाहता है। इन्सानके बसकी बात नहीं कि खुदाको अपनी जिस्मानी आँखों-से देख सके। भोले बच्चे, तू सही तरीक़ेसे उसकी इबादत करना सीख। फिर इस तरहकी ग़लती न करना।"

यह शिक्षा देकर हज़रत मूसा आगे बढ़ गये। बेचारा गड़रिया हैरान था कि इतने बड़े सन्तको अपने मनका भाव कैसे समझाये। उसने मनमें सोचा : "ज़रूर ग़लती मेरी ही है। सचमुच मुझे इबादत करना नहीं आता। मगर अब मैं खुदासे बोलूँगा किस तरह, उसे पाऊँगा कैसे ?"

उसी शाम हज़रत मूसा जब प्रार्थनामें बैठे तो ध्यान उचटने लगा और भगवानके निर्गुण रूपका नक़्शा ही लोप होने लगा। तभी वातावरणमें

एक गूँज उठी। हज़रत मूसाने सुना, खुदाकी पाक हस्ती खुद बोल रही थी :

"मूसा, मैंने तुम्हें दुनियामें अपना बेटा बनाकर इसलिए भेजा था कि तुम इन्सानोंको यह सबक़ दोगे कि वे मुझे किस तरह पायें, मुझसे किस तरह रिश्ता जोड़ें। तुम तो उल्टी ही बातें करने लगे। भला, उस भोले गड़रियेकी सच्ची भक्तिको तुमने क्यों नहीं पहचाना? क्या तुम भूल गये कि सच्ची इबादत और भक्ति इन्सानके अपने जज्बातमें और अपनी भावनामें है, किसी लगे-बँधे तरीक़ेमें नहीं।"

हज़रत मूसाने उस दिन जाना कि वह नादान गड़रिया उनसे कहीं ज़्यादा खुदाके नज़दीक था। वे उसी समय प्रार्थना छोड़कर उठे और उस ओर चले जहाँ गड़रियेसे उनकी भेंट हुई थी!

इतिहास और कल्पना

- भगवान महावीर : एक इण्टरव्यू
- जब पॉम्पेआईको प्रलयने वरा :
  एक काल्पनिक रेडियो कमैण्ट्री

भगवान महावीर : एक इण्टरव्यू

शीर्षक लिख लिया तो मन विचलित हुआ। क्या त्रिलोक-वन्दनीय भगवान महावीरसे 'इण्टरव्यू' लेनेका दम्भ उचित है ? क्या यह भगवानके प्रति अभद्रता न होगी ? 'इण्टरव्यू' आजकी प्रथा है। 'इण्टरव्यू' लेते हैं पत्रकार; देते हैं नेता, अभिनेता और सब कोई—पात्र भी अपात्र भी।

मनकी बात अन्तर्मनने सुनी। 'इण्टरव्यू' का विचार अन्तर्मनका था। समाधान भी उसे ही देना होगा। आज कार्तिकी अमावस्याकी दीप-वेलामें अन्तर्मन भगवान महावीरके निर्वाणकी पावन स्मृतिसे पुलकित था। भगवानके लोकोपकारी जीवनकी झलक शतशत आलोक-पुंजोंमें प्रतिभासित हो रही थी। मनकी दुर्विनीत शंकासे अन्तर्मन विचलित न हुआ। बोला :

"आज दीपावलीके दिन भी यदि भगवानका सान्निध्य और प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त न हुआ तो कब होगा ? आज उनका अन्तर्दर्शन करना है; हृदयकी साक्षात् प्रतीति और अनुभूति द्वारा भगवानसे समस्याओंका समाधान प्राप्त करना है, धर्मका मर्म सुनना है—'इण्टरव्यू' का अर्थ 'अन्तर्दर्शन' ही तो है। लो चलो।

मन और अन्तर्मन आनन्द-विभोर पहुँचे उत्तर-विदेहकी उस पुण्य भूमिमें जहाँ मज्झम पावापुरीमें, नालन्दाके अंचलमें, भगवानका अन्तिम चातुर्मास और निर्वाण हुआ था। आँखोंके आगे कौंध गई वह धर्म-सभा, जिसे भगवानका 'समवशरण' कहते हैं। दूरसे दिखाई दिया मानस्तम्भ—पुंजीभूत श्रद्धाका प्रतीक। देखते ही विनयसे सिर झुक गया। अज्ञानकी मद-रज झर गयी। दर्पण-से मनने भगवानके प्रतिबिम्बको अपनी समूची निर्मलताके साथ अखण्ड भावसे अंकित कर लिया। यही 'सम्यक्दर्शन'की भावभूमि थी। दृष्टि रुकी नहीं; मन अटका नहीं, अन्तर्मन ठिठका नहीं—साष्टांग प्रणिपात समर्पित हुआ भगवानके चरणोंमें। दिव्य आभायुक्त मुखमण्डल, सतेज देह, अनन्य करुणा-पूरित निर्मल दृष्टि, दिव्य ध्वनि और आश्चर्यजनक श्रोतामण्डली—विविध, भेद रहित, साधु-नृपति सामन्त-गृहस्थ, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चाण्डाल, पशु-पक्षी, सब एक स्थानपर, एक साथ।

सहसा मेघ-गर्जनकी-सी मन्द्र-ध्वनि कानोंमें गुंजरित हुई : "वत्स, तुम्हें भी जो पूछना हो पूछो, धर्ममें तुम्हारी बुद्धि स्थिर हो !"

मन—यह कैसी ध्वनि ? भगवानकी वाणी खिरी क्या ? शास्त्रोंमें पढ़ा था कि भगवान जब बोलते हैं तो उनकी वाणी निरक्षरी होती है। समवशरणमें बैठा प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी बोलीमें अभिप्राय समझ लेता है। ऐसी भी भाषा हो सकती है क्या ? अभी जो बात सुनी वह क्या ऐसी ही वाणीमें बोली गयी ?

अन्तर्मनमें समाधान प्रतिध्वनित हुआ—भगवानके समवशरणकी वास्तविक रचनाका तथ्य यहाँ ही प्रत्यक्ष है। भगवानकी यह धर्मसभा

सबके लिए समान रूपसे खुली है। ढाई हजार साल पहले जब भगवानने धर्मका खुला उपदेश देना प्रारम्भ किया तो उस युगमें सर्वसाधारणके लिए यह अभूतपूर्व बात थी। धर्म-वार्ता सुननेका अधिकार केवल उच्चवर्गको, कहनेका अधिकार केवल ब्राह्मणवर्गको था। धर्मका विषय होता था विशेष-कर यज्ञोंका विधि-विधान जिसमें पशुओंको होमा जाता था। भगवानने अपनी धर्मसभामें पशुओंको स्थान दिया। इसका एक तो कारण यह था कि जहाँ पशुओं तकको आने बैठनेकी छूट हो, वहाँ ब्राह्मण-शूद्रके भेदभावकी शंका ही न उठ सके और दूसरा कारण यह कि आत्म-विकासकी सम्भाव-नाओंको लक्ष्य करते हुए पशुतिर्यञ्च इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वे मानव-समाजके अंग हो जाते हैं। उन्हें यज्ञमें बलि देना जघन्य पाप है। भगवानकी दिव्य प्रभा और वाणीका आत्मिक प्रभाव उनपर भी पड़ता था। वहाँ सब वैर-विरोध भूल जाते थे।

मन—आश्चर्य है कि भगवानका इतना स्पष्ट विधान होनेपर भी २० वीं सदीका 'अन्तर्राष्ट्रीय मानव' यह विवाद छेड़े कि हरिजनोंको भग-वानके मन्दिरमें जाने दिया जाय या नहीं।

किन्तु यह निरक्षरी वाणीवाली बात समझने योग्य है। इसका रूप क्या, रहस्य क्या? मनने प्रश्न किया।

अन्तर्मनकी स्मृति जागी—"निरक्षरी वाणीका मुख्य भाव यह है कि भगवान जो उपदेश देते थे, वह अपने अनुभव और दीर्घ-चिन्तनके आधार-पर। शास्त्रोंके अक्षर बाँचकर नहीं सुनाते थे। भगवान लोकभाषामें उपदेश देते थे। मागधी भाषामें भी आसपासकी प्रादेशिक बोलियोंके शब्द मिलाकर अर्धमागधी भाषामें प्रवचन करते थे। अतः वह सबकी समझमें आ जाती थी।"

मन और अन्तर्मनकी यह बातचीत पलक झपकते समाप्त हो गयी। भगवानके दर्शनोंका ऐसा प्रभाव था कि अनेक शंकाएँ स्वयमेव निर्मूल हो

जाती थीं। पर भगवानकी अनुभूतिका लाभ लेना चाहिए। भगवानने कहा है, "वत्स, धर्ममें तुम्हारी बुद्धि स्थिर हो।" धर्म....?

मनने जिज्ञासा की—"भगवन् ! शास्त्रोंमें धर्मकी इतनी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं कि कभी-कभी विवाद उठ खड़े होते हैं, बुद्धि-विभ्रम हो जाता है। धर्मका मर्म क्या है ?"

भगवानकी दिव्यध्वनि निनादित हुई—"धर्मका मर्म है जीवन। धर्म वही जो जीवनको पूर्णता दे, सार्थकता दे, सुख दे, समता दे—एकके या कुछके जीवनको नहीं, सबके जीवनको, प्राणीमात्रके जीवनको।"

मन—प्रभु ! जीवन सदा एक-सा नहीं रहता। परिस्थितियाँ बदलती हैं, इतिहास बदलते हैं, सामूहिक आवश्यकताएँ बदलती हैं, क्या धर्मके सिद्धान्त भी तदनुकूल अदलते-बदलते रहते हैं ?

दिव्यध्वनि—"परिस्थितियाँ निःसंदेह बदलती हैं, पर धर्मका लक्ष्य नहीं बदलता। धर्मका लक्ष्य ही है कि परिस्थितियोंके अनुरूप या परिस्थितियोंकी प्रतिकूलताके रहते हुए भी लोकहित साधे। इतिहास जब-जब ऐसी परिस्थितियोंको उत्पन्न करे जो मनुष्यके सामूहिक विकासमें, उसके सुखमें प्रतिरोध उत्पन्न करें, तब-तब धर्मका कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे सिद्धान्तोंका प्रतिपादन या पुनःस्थापन करे जो उस प्रतिरोधको हटायें। एक युगमें जो सिद्धान्त मुख्यता ग्रहण करता है, दूसरे युगमें वही गौण हो जाता है या किसी अन्य सिद्धान्तको मुख्य स्थान दे देता है।"

अन्तर्मन गुनगुनाया—हाँ, ठीक है। भगवान पार्श्वनाथके समयमें चातुर्याम थे, अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह ही अणुव्रत और महाव्रतके रूपमें ग्रहण किये जाते थे। २५० वर्ष बाद जब प्रभुने अपना तीर्थ प्रवर्तित किया तब देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार ब्रह्मचर्यपर बल देना आवश्यक हो गया और इस तरह पंचमहाव्रत प्रतिपादित हुए।

मन—भगवन्, आजके दिन हमलोगोंको अहिंसाके किस पक्षपर बल देना चाहिए ?

३

दिव्यध्वनि—"आज पशु-यज्ञ नहीं होते, किन्तु संसारकी जन-संख्याको देखते हुए मांसाहार कई गुना अधिक बढ़ गया है। अब निरामिष आहार और गो-संवर्द्धनपर अधिक जोर देना चाहिए। आज दास प्रथा भी नहीं रही; मानवका आत्म-सम्मान भी अधिकाधिक जाग्रत हुआ है। अतः अहिंसा के 'करुणा' पक्षपर बल देनेकी अपेक्षा आज साम्य-संवर्द्धन और 'प्रेम' पक्षपर ही बल देना उचित है।

मन—देव, राज्य-शासनके सम्बन्धमें आप आज क्या आदेश देना चाहेंगे? आपका मन्तव्य क्या रहा है?

दिव्यध्वनि—"तीर्थ-कालमें मैंने एक-छत्र राजतन्त्रकी आवश्यकता बतायी थी क्योंकि उस समय अनेक छोटे-छोटे गणतन्त्र टकरा जाते थे और दुरभिसन्धियाँ चलती थीं। अनेक गुप्तचर भी दिगम्बर वेशमें फिरते थे।

अन्तर्मन—(हाँ, याद पड़ता है, शास्त्रोंमें उल्लेख है कि बारह वर्ष-की तप-साधनाके दिनोंमें जब भगवान् देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करते थे या चातुर्मासके लिए उपाश्रय लेते थे तो एक बार चोरय सन्निवेशमें, दूसरी बार कोल्लिय सन्निवेशमें और तीसरी बार लोहाग्गलु राजधानीमें राज-कर्म-चारियोंने इन्हें गुप्तचर समझकर कष्ट पहुँचाया था।)

दिव्यध्वनि—"किन्तु आज सार्वभौम गणतन्त्रकी सम्भावनाका उदय हो गया है। व्यक्तिका इतना विकास होना चाहिए कि वह स्वशासित हो। देवलोकके शासन तन्त्रकी रचनाका उल्लेख मैंने इसी रूपमें किया है। राजा-प्रजाका जो विधान है वह नीचे स्तरका है। उच्च देवलोकमें प्रत्येक देव इन्द्र है—वहाँ कोई किसीपर शासन नहीं करता—सब 'अहमिन्द्र' हैं, सब शान्तिपरिणामी हैं। वैसे कल्पातीत तन्त्रकी प्रणाली लौकिक शासनका लक्ष्य होना चाहिए। सामाजिक आधारकी भित्ति तो समता है ही। जीविका भी श्रमार्जित हो। 'श्रमण'की कल्पनामें ही ये तत्त्व निहित हैं।"

मन—भगवन्! आपने साधुसंस्थाके आचार-विचारका जो निर्देशन किया है वह इतना कठिन है कि असाध्य-सा बन जाता है। विदेशोंमें चर्या-

की असाध्यताके कारण जैन-साधु धर्म प्रचारार्थ भी अधिक नहीं जा पाये। गृहस्थचर्या गौण-सी बन गई है।

दिव्यध्वनि—"साधुता संयमीके जीवनका प्रतीक है। उसमें ढिलाई नहीं की, किन्तु जैन धर्मके आचार-व्यवहारका मुख्य भाग गृहस्थोंको लक्ष्य करके ही प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा विधानमें एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवोंका श्रेणी-विभाजन इसीलिए किया है कि गृहस्थोंको विभिन्न प्राणियोंमें प्रतिष्ठित चैतन्यके अनुपातसे हिंसाकी तर-तमताका ज्ञान हो जाय। अनिवार्य द्रव्य-हिंसा जो होनी हो, हो; संकल्पी-हिंसा कदापि न हो! इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक विकासकी जिन श्रेणियों का उल्लेख चौदह 'गुणस्थानों'के नामसे किया गया है उसमें भी गृहस्थोंकी क्षमताका ध्यान रखा है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग भी अणुव्रतके रूपमें गृहस्थोंके लिए रखा गया है। स्वयं साधुसंस्थाका निर्माण भी गृहस्थोंमें धर्म-भावना प्रसारित करनेके लिए किया गया है।"

मन—दर्शन और धर्मका समन्वित रूप दर्शानेकी कृपा करें, प्रभो!

दिव्यध्वनि—"धर्मका अभिप्राय है कल्याणकारी आचरण; और दर्शन-से अभिप्रेत है वस्तुसत्यकी प्रतीति। धर्मका व्यावहारिक रूप है 'अहिंसा' और सत्यका व्यावहारिक रूप है 'अनेकान्त'। अहिंसा और अनेकान्तकी समन्वितिमें धर्म और दर्शन, भावना और ज्ञान समाहित हैं।"

मन—जैन दर्शनका सार क्या है, स्वामी?

दिव्यध्वनि—"तत्त्वकी दृष्टिसे जीव और अजीव; अर्थकी दृष्टिसे उत्पाद-व्ययध्रौव्य और ज्ञानकी दृष्टिसे अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यको समझ लेना समूचे दर्शनको समझ लेना है। धर्म और दर्शनकी सार्थकता तदनुरूप आचरणमें है। किन्तु यदि जीवनमें एकान्त आग्रह रहा, असंयम रहा, अविवेक रहा तो समझना-समझाना व्यर्थ।"

प्रवचन समाप्त होनेको ही था कि भेरी, मृदंग, शंख, घण्टे आदि अनेक बाजोंका स्वर सुनाई दिया। जय-जयकार वातावरणमें निनादित हुआ।

आकाशसे पुष्प-वृष्टि प्रारम्भ हो गयी। समवशरण विसर्जित हो रहा था। भगवानकी निर्वाण-वेला आ पहुँची।

मनने जल्दी-जल्दी कहा—भगवन् ! अपनी सन्ताप-हारिणी जीवनीके सम्बन्धमें भी एक-दो प्रश्न करनेकी अनुमति दें।

बात पूरी नहीं हो पाई कि एक दिव्य-ज्योति अलौकिक आभा विकीर्ण करती हुई द्रुत-गतिसे आरोहण कर गयी। जय-जयकारकी ध्वनि और वाद्य-यंत्रोंका नाद तुमुलतर होता गया। अपने प्रश्नका समाधान अन्तर्मनमें स्वयमेव जाग्रत हो गया। प्रतिध्वनि-सी गूँजी :

भगवानके अतिशय और चमत्कारोंकी चकाचौंधसे मुग्ध भक्त यह क्यों भूल जाता है कि भगवानने जन-कल्याणके लिए जो तीर्थ-प्रवर्तन किया उसके पीछे उनकी अपार महान-साधनाका दुर्गम सागर तरंगायित था। महल छोड़े, राजभोग छोड़े, १२ वर्ष तक बीहड़ वनों और अकारण विद्वेषी जनोंमें घूमते रहे। सूने विपाक्त चैत्योंमें ठहरे; साधारण जुलाहों-कुम्भकारों-की शालाओंमें ध्यानस्थ हुए; ग्वालोंसे संत्रस्त हुए। उस लाठ देशमें ६-६ महीने निराहार घूमे जहाँके कटुस्वभावी व्यक्ति शिकारी कुत्ते छोड़ देते थे, आसन-बांध पटकी देते थे। मिथ्यात्वी शिष्य मंखी गोशालके हाथों उपसर्ग सहे; कूपमें लटकाये गये, कानोंमें खूँटे ठोंक दिये गये। स्वेच्छासे भी परीषह सहीं'''और साधना करते गये,करते गये,इसलिए कि संसारको सद्धर्म का प्रकाश मिले, लोक-मूढ़ता हटे, शूद्रोंको मानव अधिकार, पशुओंको प्राण-दान और स्त्रियोंको गौरव मिले''''दासोंको बन्धन-मुक्ति मिले, अनेकानेक धर्म-दर्शनोंकी एकान्त-आग्रही जड़ता टूटे और मानवता प्रतिष्ठित हो।

इस कोमलकाय राजकुमारने अपने आपको जन-जीवनमें इतना खपाया कि चरम साधनाका फल—केवल ज्ञान—प्राप्त किया एक साधारण किसान श्यामाकके खेतमें, शाल वृक्षके नीचे। और, निर्वाण पाया एक पटवारीकी रज्जुगसभासे, यद्यपि १८ गणराजा श्रद्धावनत वहाँ उपस्थित थे ! ● ●

जब पॉम्पेआईको प्रलयने वरा

यह आकाशवाणी दिल्ली है। आज २४ अगस्त १६५६ को हमने एक विशेष कार्यक्रमका आयोजन किया है।

इस समय दोपहरका एक बजा है। अब हम आपको इटली ले चलते हैं। दक्षिण इटलीके एक प्रसिद्ध नगर नेपल्सके रेडियो स्टेशनमें हमारे विशेष अधिकारी पहुँचे हुए हैं। नेपल्ससे १० मील दूर, दक्षिण-पूर्वकी दिशामें, हमने आज एक अस्थायी स्टूडियो बनाया है—प्राचीन नगरी पॉम्पेआईके खण्डहरोंकी सीमापर। लीजिए, अब आप इटली पहुँच गये। सुनिए—

हम पॉम्पेआईसे बोल रहे हैं। बोल क्या रहे हैं, भावनाओंका ज्वार

उमड़ा पड़ रहा है—जैसे सामने ये नेपल्सकी खाड़ीकी समुद्र-तरंगें एक-पर-एक उमड़ रही हैं, जुड़ रही हैं, टूट रही हैं। मन विस्मय-विमुग्ध है, हृदय आहत है, वाणी कातर। पिछले एक सप्ताहसे हम पॉम्पेआईके खण्ड-खण्डका अध्ययन कर रहे हैं और आज जब २४ अगस्त १९५९के दोपहर-का एक बजा तो हम अपनेको आजसे ठीक १८८० वर्ष पहलेकी इसी २४ अगस्त सन् ७९ (केवल ७६) की उस मध्याह्न वेलामें पहुँचा हुआ पा रहे हैं जब यह पॉम्पेआई नगरी अपने वैभव और विलासके शिखरपर थी—रोमन साम्राज्यकी नन्हीं बनी-ठनी कोमलांगी दुलहन! आप भी उस नगरीसे, उस मध्याह्न वेलासे, तन्मय हो जाइए।

२४ अगस्त सन् ७९ की यह मध्याह्न वेला कैसी चमचमा रही है! गर्मी है, पर बड़ी सुहावनी। यह जगह जहाँ हम खड़े हैं काफ़ी ऊँची है। पर यहाँ पॉम्पेआईमें जो सबसे ऊँची जगह है वह तो विसूवियस पहाड़की ४००० फ़ीट ऊँची चोटी है जो यहाँसे ४ या ५ मील दूर है। काले, भूरे, मटमैले पहाड़पर पड़ती हुई धूप जैसे पत्थरोंपरसे फिसलकर अंगूरकी लतरों-से ढँके कुञ्जोंमें जा बैठना चाहती हो! विसूवियस शान्त तपस्वी-सा निश्चल मौन बैठा है। देखकर सहज ही गीताकी पंक्ति याद आती है—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

इस नगरीने केवल ६०० वर्ष पहले इस तपस्वीके सामने पहली बार पलकें खोली थीं—ऊँचे टीलेपर जैसे रूपहली जैतूनके नन्हें पौदे उग आये हों। लेकिन इन ६०० वर्षोंमें यह पॉम्पेआई क्यासे क्या हो गयी—दो मीलके घेरेमें बसी यह बीस हजारकी बस्ती! संगमरमरके ये दुमंजिले भवन रोमन सामन्तों और व्यापारियोंके महल हैं जिनका अंग-अंग यूनानी शिल्पका नमूना है। ये महल इन धनिकोंने गर्मियोंमें अपने विनोद-विलासके लिए बनवाये हैं। इसीलिए यहाँका प्रमुख व्यापार आमोद-प्रमोद है।

इधर देखिए, पश्चिमकी ओर! समुद्रके तटपर कितने पोत आ लगे

हैं ! एक, दो, तीन—इस समय छोटे-बड़े आठ पोत बन्दरगाहमें लंगर डाले खड़े हैं । अनेक किश्तियाँ रंग-बिरंगी पताकाओं और पालोंसे सजी इठलाती हुई तैर रही हैं ! लेकिन आदमी कहाँ हैं ? सुन्दरियाँ कहाँ हैं ? उनके सम्बन्धमें देखने-सुनने लायक क्या-क्या है ? यही सोच रहे हैं न आप ? तो आइए इस रथपर बैठिए ।

यहाँके ये सुन्दर रथ; इन्हें आप बहली भी कह सकते हैं । मोटे रेशमी कपड़ेकी छत और परदे जिनपर तरह-तरहके चित्र काढ़े हैं । बैठनेकी जगह गद्दोंपर या गद्दीवाली चौकियोंपर । यहाँ-वहाँ घण्टियाँ बँधी हैं । धुरी और चक्कोंपर गहरा रंग पुता है । धूपमें कैसे झिलमिला रहे हैं ये परदे, धुरियों-के रंग, कांसेकी घण्टियाँ । और ये घोड़े, पार्थियन घोड़े, जो रथमें जुते हैं ? जैसे ताँबेके रंगकी संगमरमरकी शिलाओंको छैनियोंसे तराशकर स्फूर्तिमें ढालकर घोड़ोंके रूपमें सजीव कर दिया गया हो ! लगामकी ढील दी और ये आकाशमें उड़नेको हुए !

पर चलना इन्हें जमीनपर है । इसलिए पाम्पेआईकी सड़कें इन घोड़ों-के अनुरूप हैं—पत्थरकी, बीस-बीस फ़ीट चौड़ी । यह सड़क जिसपर हमारा रथ जा रहा है, यह तो बत्तीस फ़ीट चौड़ी है ! यही राज-पथ है । यह कुछ ऊँचाईपर है । दोनों ओर पैदल चलनेवालोंके लिए पक्का रास्ता है जिसपर उतरनेके लिए थोड़ी-थोड़ी दूरपर दो-दो सीढ़ियाँ बनी हुई हैं ।

कितनी भीड़ है दोनों ओरके इन रास्तोंपर ! रंग-बिरंगे पहनावे हैं । कुछ लोग चोगा पहने हैं तो कुछ लोग रंगीन रेशमी ट्यूनिक—ढीली-ढीली बाहोंका लबादा-सा—जिनकी बाहोंपर सोनेके तारकी फूलकारी है । कन्धेके एक ओर शाल-सी झुली हुई और दूसरा छोर बायें हाथकी कोहनियोंपर लटका हुआ । कमरमें करधनी, गलेमें सोनेकी जंजीर जिसके दोनों सिरे हृदयके ऊपर जहाँ मिले हैं वहाँ नागमुखीकी आकृतिके पेण्डेण्टमें जवाहरात जड़े गये हैं । घुँघराले बाल, हिम-गात, साँचेमें ढले हुए शरीर । और ये

महिलाएँ तो सचमुच जैसे परियोंके लोकसे आ गयी हों। सरपट दौड़ते रथोंसे उनकी पीठ ही दिखाई दे जाती है। थोड़े हेरफेरसे बिलकुल जैसे रेशमी साड़ी पहन रखी हो। खुली बाहें, अधखुले वक्ष, जूड़ेमें कई-कई फूल, सोने-पन्नेके गहने, मादक प्रसाधन ! और ये उधर झिलमिल अवगुण्ठन-में कौन महीयसी कामिनी है ? ये किसी बड़े घरकी है, दायें-बायें कुछ लिये दो दासियाँ हैं।

ये देखिए हम अब बाजारके चौकमें आ गये ! अब जरा रथसे उतर लें। चारों तरफ़ बड़े-बड़े दालानोंकी ऊँची छतें, विशाल पाषाण-स्तम्भोंपर टिकी हैं। स्तम्भ बनानेमें इन शिल्पियोंको सचमुच कमाल हासिल है। अब हम रथसे उतर चुके हैं। सामनेकी दूकानपर पहुँच रहे हैं। मगर ये बीचमें ही फूलोंके गुच्छे बेचतीं युवतियाँ हर आने-जानेवालोंको घेर लेती हैं। क्या न दे दे कोई इनकी मुसकराहटपर ! इनसे पार लेते हम अब एक दूकानमें आ गये हैं। मगर ये तो बन्द कर रहे लगते हैं ? लकड़ीके पटिये दूकानके आगे खड़े कर रहे हैं। 'साहब, हमें कुछ देखना है ! खरी-दना है !' अच्छा ! दूकानदार शायद हमारी क्लैसिकल लैटिन नहीं समझता; पर भाव समझ गया ! स्वागत दे रहा है, कहता है : "आप लोग दो घण्टे बाद पधारें। अब तो एक बज गया, भोजनका समय है।"

कैसी मीठी मुसकराहटसे बात करता है यह दूकानदार ! दूकानमें दीवारके सहारे लम्बे-लम्बे खाने बने हैं और उनमें शीशे, संगमरमर तथा बिल्लौरी सुराहियोंमें तरह-तरहकी गमकती शराबें रखी हैं। बीसों तरहके अचार, मुरब्बे, मिठाइयाँ और नमकीन। आइए, उधर शायद कपड़ा बाजार है। रेशमी, सूती, ऊनी, तरह-तरहके डिज़ाइनों और चटख रंगोंके लोग ढेरका-ढेर कपड़ा गुलामोंके सिरपर धराये जल्दी-जल्दी घरकी तरफ़ बढ़े जा रहे हैं। आइए, हम भी अब अपने रथपर सवार हो लें।

ये आल इण्डिया रेडियो है और हम पॉम्पेआईके अस्थायी स्टेशनसे बोल रहे हैं। पॉम्पेआई नगरका दक्षिणी भाग छोड़कर हम अब पश्चिममें

आ गये हैं । यहाँकी सबसे बड़ी इमारत यही है । सामने यह सूर्य देवताका मन्दिर है, ईसाके जन्मसे दो सौ वर्ष पहलेका बना । यहाँ ऐसे मन्दिर ही मन्दिर हैं । ये दूसरा देखिए । उससे ज़रा छोटा—छोटा, यानी सिर्फ़ २९६ खम्भोंका । यह युवकोंकी देवी वीनसका मन्दिर है ।

ठहरिए, ये लोगोंमें घबराहट सी कैसी ? ये, ये एक अजीब तरहकी गड़गड़ाहट-सी कैसी ?····ये फलवाली और ये अगुरु-धूप वाली····इनकी डरी-डरी-सी आँखें क्या कह रही हैं ? ये बच्चा गिरा ! वे लड़खड़ाये ! हाँ-हाँ, आ जाइए, हमारे रथमें बैठ जाइए ! पर ये रथके घोड़े भी तो अस्थिर-से हुए जा रहे हैं । बात क्या है ?

फिर गड़गड़ाहट ! अरे भूकम्प ! उधर एक बूढ़ा ! रथपर आ जाओ, आ जाओ ! बूढ़ा शायद सोच रहा है—१६ साल पहले भूकम्प आया था—बड़े-बड़े मकान गिर गये थे । बे-अन्दाज़ नुक़सान हुआ था ।···· सब तरफ़ शोर और हड़बड़ी है। रह-रहकर धरती काँपती है, रथ उछलता है, घोड़ोंकी टाप चूक जाती है, रथमें बैठी तीनों-चारों युवतियाँ और बच्ची सहम गयी हैं ।

यह नगरका सभा-भवन है : ४६७ फ़ीट लम्बा, १२६ फ़ीट चौड़ा । यह पोर्टिको जो ६ खम्भोंपर खड़ा रह गया है, पहले बहुत बड़ा मन्दिर था, पिछले भूकम्पमें ध्वस्त हो गया । ये एम्फ़ीथियेटर है, नाट्यशाला, २० हज़ार आदमी इसमें बैठ सकते हैं । ये छोटी रंगशाला है, यहाँ ५ हज़ार····ओ हो, ठहरिए ! घोड़े गिरते-गिरते बचे ! भयंकर गड़गड़ाहट ! सब भाग रहे हैं । भगदड़ मच गयी है । रथ अब नहीं चल सकता ।····

यह सामने जो बड़ी सजी-धजी-सी इमारत है, यही पौम्पेआईका सबसे बड़ा स्नानगृह है । स्नानगृह अर्थात् निर्बाध विलासका मुक्त भवन । हमाम, ठण्डा पानी, गर्म पानी, मालिश, प्रसाधन, षट्रस व्यंजन, हास-परिहास, सुरा, सुन्दरी—साँझकी सुरमई वेलासे सबेरेके उनींदे झुटपुटे तक मानवकी पृथ्वीका स्वर्ग : स्वयं स्वर्ग जिसे पानेको ललके !

बायीं ओरके इस ऊँचेसे महलको भी उँगलीसे दिखाते हुए यह बूढ़ा कुछ कह रहा है, पर, माफ़ कीजे, यहाँ तो इस वक्त कानोंकान भी कुछ सुनायी नहीं पड़ रहा है। इतना कोलाहल और कोहराम भरा है वातावरण-में। नीचे धरती कराह-कराहकर करवटें ले रही है, ऊपर आकाश-पाताल-को फोड़ता विसूवियस हुंकार रहा है। समाधिमग्न शिवकी भाँति विसूवियस-ने तीसरा नेत्र खोल दिया है····

ऐं? एकाएक यह सब कुछ कैसा सुन्न-सा हो रहा? साथकी वे बालाएँ बच्चा और पुराने चीड़-सा वह बूढ़ा—सब कहाँ गये? ऊँचे-ऊँचे दरख़्त जड़ोंसे उखड़ गये हैं, गूदड़के चिथड़ोंसे जहाँ-तहाँ पक्षी पड़े हैं। धरतीकी छाती पसली-पसली होकर बेहिसाब छितर गयी है! क्या था जो धरामें नहीं समा गया! जो बचा वह हज़ार-हज़ार धारोंमें फूटे इस प्रलय-प्रवाह-के ज्वारमें डूबता चला जा रहा है। यह प्रवाह पानी नहीं, यह लावा है, आग—पिघला हुआ लोहा, गला हुआ सीसा। उबलती-उमड़ती तरल आग, महानाशकी आग, अनाम, पर अचूक!

वह देखिए, अब विसूवियसका धुँआ शेषनागकी फूत्कार-सा भभक कर उठा। इसके एक-एक बगूलेमें सौ-सौ महारुद्र हैं जो अपनी घोर प्रलकारी क्रूरतामें पृथ्वीका गर्भ ही उलीच लाये हैं और अब उसीपर बरस पड़ेंगे कि अपने आमोद-प्रमोदमें वह सभी कुछ क्यों भूल रही! उधर वह समुद्र उछालें लेता हड़हड़ा उठा है, इधर यह महाकराला आँधीकी दैत्या है जो अपनी बिखरी लटों और खुली हथेलियोंपर सब तरफ़से महानाश समेटे नाच-नाचकर उच्छृङ्खल हो रही है। शोभा नगरी, विलास नगरी, पॉम्पेआईपर प्रलयकालका अचूक और अभंग अँधेरा! सब समाप्त····सब समाप्त····सब समाप्त!

× ×

हम आल इण्डिया रेडियोके पॉम्पेआई स्थित अस्थायी स्टेशनसे बोल रहे हैं। आपने देखा कि २४ अगस्त सन् ७९ को पॉम्पेआईपर मौत-

ने अपनी सियाह चादर किस तरहसे डाल दी और वह हँसता-खेलता नगर पलक झपकते दफ़न हो गया, समाप्त हो गया। लेकिन सचमुच समाप्त तो कुछ होता नहीं, इसीलिए आज २४ अगस्त १९५९ को हम उस अतीतके सूत्रोंको वर्त्तमानसे जोड़ रहे हैं।

उस रोज़के बाद फिर धीरे-धीरे महाकालका ताण्डव जब शान्त हुआ तो पॉम्पेआई नगरपर लावा, गारा, पत्थर और पिघली धातुओंकी २० फ़ीट मोटी चादर चढ़ी हुई थी। मध्ययुग आया तो किसीको ध्यान भी न था कि वहाँ कभी कोई शहर था।

शताब्दियों बाद दूरके देहातोंमें सार्नो नदीके तटके एक ऊँचे टीलेको कभी-कभी 'ला सिविता' अर्थात् 'नगर' नामसे याद किया जाता था। १५९४ में जब सार्नोका पानी दूर ले जानेकी योजनाके सिलसिलेमें सुरंग खोदी गयी तो पत्थरकी पटियोंपर कुछ लिखा हुआ मिला। पर यह तो इटलीमें कोई अनोखी बात मानी नहीं जाती थी। १७३९ में नेपल्सके राज-इंजीनियर अल कुबियरने वह सुरंग देखी तो उसकी कल्पनामें किन्हीं अस्पष्ट चिह्नोंका भान हुआ। उसने 'ला सिविता' के आस-पास की ज़मीन-को बारूदसे उड़ाना शुरू किया। फिर जहाँ कुदाली चली वह अतीतकी पॉम्पेआईका एक बाज़ार-खंड था। संगमरमरकी चौखटें दिखाई दीं, एक आदमीका समूचा ढाँचा मिला जिसके हाथमें सोनेके सिक्के थे।

बस इन सूत्रोंको उठा लिया गया और फिर खुदाई और कल्पनाके सहारे जाँचते-परखते आज पॉम्पेआईकी १८८० वीं बरसीके दिन उस नगरका कुछ आभास साकार मौडेलमें उतार लिया गया है। पर अभी सौ बरस और खुदाई जारी रहेगी तब पॉम्पेआईका पूरा रूप संसारके सामने आ पायेगा। पिछले दो सौ बरससे सौ जनोंकी चौथी पीढ़ी पुश्तैनी तौरसे वहाँ खुदाई कर रही है—मानो वह उपासनाका काम हो।

हमारा आजका यह कार्यक्रम समाप्त होनेवाला है। आइए उससे पहले हम नगरके भग्नावशेषपर एक उड़ती हुई नज़र डालकर २४ अगस्त

सन् ७९ की यात्रा पूरी कर लें। अब जो व्यक्ति सामने हैं वे ढाँचेके रूपमें और जो बात करनेवाले हैं वे मात्र भग्नावशेष। वही देखिए, वही सुनिए।

ये फ़व्वारा है। ४ लड़कियाँ यहाँसे पानी भरकर अपने कन्धोंपर लम्बी गर्दनके पतले घड़े उठाये बातें करती हुई जो आगे बढ़ीं तो भूकम्पके झटकेसे गिर गयीं और फटी जमीनमें समा गयीं।

यह नानबाईकी दूकान है। तन्दूरी रोटियाँ पका रहा था। दोपहरके भोजनका समय था न! इक्यासी रोटियाँ इसने पकाके रखीं। खानेवाले आ न पाये। बेचनेवाला रह न गया। अब रोटियाँ नेपल्सके अजायबघरमें रखी हैं।

यह मधुशाला है। साक़ीका पंजर पड़ा है, सौदागरका भी। दूकानकी रेलिंगके पास जो नक़द दाम सौदागरने निकालकर रखे, काउण्टरपर पड़े हैं। रुपया उठानेके लिए कोई हाथ भी न बढ़ा पाया।

ये ६-७ आदमी मुरदेको दफ़नाकर लौटे हैं। क़ब्रिस्तानमें काम आनेवाले अनुष्ठानके पात्र पास पड़े हैं। मृत्युका भोज ये बेचारे खा भी न पाये, कि मौत इन्हें खा गयी।

यह आदमी, यह औरत—पति-पत्नी! जमीनमें धन गाड़कर भागनेकी फ़िक्रमें थे कि खुद ही गड़ गये! अभी चार दिन पहलेकी खुदाईमें निकले हैं।

यह है वही आदमी जो पॉम्पेआईकी खुदाईकी पहली महत्त्वपूर्ण प्राप्ति है। खुदाई करानेवाले विद्वानोंका कहना है कि यह लुटेरा था, मौक़ेसे फ़ायदा उठाकर हाथमें सिक्के दबाये, तरह-तरहकी कल्पनाओंमें डूबा भागा चला जा रहा था कि अभागेकी कल्पना उड़ गयी, यह डूबा रह गया।

यह माँ है, यह बच्चा है। माँने बच्चेको छातीके नीचे दबा लिया है। चाहती थी कि बच्चेके नाजुक नथनोंमें विसूवियसकी जहरीली गन्ध न

घुसे। पर बेचारी अपनी सारी ममता भाव-भंगिमाओंकी रेखाओंमें बसी छोड़कर पत्थरका पंजर रह गयी।

यह एक सन्दूक है इसमें एक पत्थरका पटिया है। साहूकारने उसपर अपना हिसाब लिखा है। नाम भी लिखा है—कैसीलियस यूकण्डस! पर भोला यूकण्डस! उस हड़बड़ीमें तमाम धन-सम्पत्ति छोड़कर भागा प्राण बचानेके लिए। प्राण न बच पाये, मगर भाग्यका खेल, कि यह नाम बच गया।

दूकानें भरी पड़ी हैं। मद्य रखने और पीनेके पात्र, कारीगरोंकी कुदालियाँ, शिल्पियोंकी छेनियाँ, सर्जनोंके औजार, बढ़ईका बसूला, सुनार-की धोंकनी, चमारकी सुतारी, नानबाईके साँचे!

इधर देखिए ये मन्दिरोंकी दीवारोंपर बने चित्र—पौराणिक, प्राकृ-तिक, वैयक्तिक, युद्धभूमिके चित्र, भोग-विलासके चित्र। चटख लाल और काले रंग, समुद्री हरा, आसमानी नीला—चूनेकी तहपर पोतकर पालिश किये हुए—ऐसे ताज़े और अछूते जैसे कल ही बनकर तैयार हुए हों।

देखिए न, पौम्पेआईकी दीवारोंपर इश्तिहारबाजी भी होती थी—चुनावके उम्मीदवारोंके नाम, जिन्सोंके भाव, आदेश और उपदेश। इधर, इस दीवार-पर लिखा है: 'क्विन्टस, ड्रुसिलाको प्यार करता है।' इसी विषयकी कविताएँ ये इन सार्वजनिक दीवारोंपर मुक्त रूपसे लिखी गयी हैं।

सोचता हूँ क्या था इन प्राणियोंके जीवनका लक्ष्य? स्वस्थ शरीर, सुन्दर गठन, मोहक भाव-भंगिमा, प्रेम, सुरा, युद्ध, शिकार और उपासना-के लिए या तो भाग्यका देवता, या प्रेमकी देवी, या शक्तिका स्रोत सूर्य-देव—जीवनके परे कुछ नहीं। जो भोग्य है वही योग्य है—शेष सब निरर्थक।

सोचता हूँ विसूवियसके एक भ्रूभंगने जब सारी लीला समाप्त कर दी तो क्या बचा इनके पास? आज भी जो बचा है, वह विसूवियसकी कृपाके

कारण। क्योंकि पहाड़का लावा और चूना जब प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु-पर चढ़ा और ऊपरसे वर्षाका पानी पड़ा तो प्लास्टरका साँचा-सा बन गया और एक-एक आकृति, भाव-भंगिमा उस साँचेमें ढलकर अमर हो रही।

फिर प्रकृतिकी इस विराट् प्रलय कलाको मानवके कौशलका बल मिला और आज पॉम्पेआई मरकर भी अमर हो गयी—कमसे कम, साकार तो हो ही गयी। प्रति वर्ष लगभग पाँच लाख यात्री पौम्पेआईको अपनी पुलकांजलि अर्पित करते हैं।

हम आल इण्डिया रेडियोके पॉम्पेआई स्थित अस्थायी स्टेशनसे बोल रहे थे। हमारा आजका यह विशेष कार्यक्रम समाप्त होता है। आइए दिल्ली वापिस चलें।

यह आकाशवाणी दिल्ली····

● ●

अध्ययन और मनन

- वैदिक साहित्य : अध्ययनकी एक दिशा
- मनु × मनुस्मृति ÷ १९६० = ?
- वाल्मीकि : सृष्टि और दृष्टि
- भक्तिके दो रूप
- दो अक्षरोंके मायालोकमें शेक्सपीयर
- मान्यताएँ और चुनौतियाँ
- आगामी कलके सत्य
- प्रणयका भविष्य
- अपना देश और विदेशियोंके सिक्के
- विज्ञान-यात्राके चरण-चिह्न

४

वैदिक साहित्य
अध्ययनकी एक दिशा

विख्यात विद्वान् और राजनीतिक नेता डाक्टर सम्पूर्णानन्दने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'वैदिक साहित्य'की भूमिकामें अत्यन्त सुन्दर ढंगसे वैदिक साहित्यकी मूल भावनाओंको और अनुपम महत्वको सार रूपसे समझाया है। उनकी भूमिका वैदिक साहित्यके विद्यार्थीको एक निश्चित दृष्टि देती है जिसके प्रकाशमें सारा वैदिक साहित्य वाद-प्रतिवादके क्षेत्रसे ऊपर उठ जाता है क्योंकि वह श्रद्धाका विषय बन जाता है। वह लिखते हैं :

"अमुक यज्ञ करनेसे अमुक फलकी प्राप्ति होगी, यह बात अनुभवसे

नहीं निकल सकती। इस प्रकारके दृष्टादृष्ट विषयोंका प्रतिपादन करनेमें ही वेदका परम प्रामाण्य है।"

निःसन्देह, वेद और वैदिक साहित्यकी महत्ताका यह एक प्रमुख विचार-क्षेत्र है; किन्तु वैदिक साहित्यका एक उच्चतम नैतिक, राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय महत्त्व भी है, जिसे न श्रद्धाके अवलम्बकी अपेक्षा है, न याज्ञिक निष्ठाकी। विद्वान् भूमिका-लेखकने वैदिक साहित्यकी इस विशेषताकी ओर संकेत किया है, पर इसे गौण माना है।

वेदका यह गौण पहलू अर्थात् उसकी उच्चतम नैतिकता और राष्ट्रियता आज हमारे देशके लिए अपरिमित महत्त्वकी है। वैदिक युगके मनीषियों और अलौकिक द्रष्टाओंकी वाणीमें हमें धर्मकी मूक प्रेरणाओंका स्फुरण मिलता है—धर्मका वह रूप, जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक नैतिकताके कारण अनुभूत और ग्राह्य है। धर्मकी व्यापकताके विषयमें कहा गया है :

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा। (अथर्व० १२.१)

"यह ध्रुव और अचल भूमि, यह पृथ्वी, जो धर्म द्वारा धारण* की गयी है, हम उस शिव-सुख-दायिनी भूमिपर विश्वान्त विचरण करें।"

वैदिक ऋषियोंने धर्मको जीवन-यात्राके लिए उपयोगी बताया है, जो

---

*धर्मकी इस परिभाषाको आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें इस प्रकार दिया है :

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

कर्मोंका नाश करनेवाले सच्चे धर्मका मैं उपदेश करता हूँ। धर्म वह है, जो जीवोंको संसारके दुःखसे छुड़ाकर (और ऊपर उठाकर) उत्तम सुखमें धारण करे।

उनके अनुभवकी उपज है। "सुगा ऋतस्य पन्थाः"—(ऋग्वेद ८.३.१३) धर्मका मार्ग सुखसे गमन करने योग्य है। "सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्" (ऋ० ९.७३.१)—सत्यकी नाव ही धर्मात्माको पार लगाती है।

इसी साहित्यमें हमें उस चरम अहिंसाके भी दर्शन होते हैं, जो भारतीय संस्कृतिकी विश्वको विशिष्ट देन है। अहिंसाकी शुद्ध सर्वग्राही परिभाषाके लिए आजकल हम प्रसिद्ध जैनाचार्य उमास्वातिके "तत्त्वार्थ-सूत्राधिगम"का यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं :

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।"

प्रमाद (असावधानी और असंयम) के कारण प्राणोंका व्यपरोपण करना—किसी जीवको ठेस लगाना—हिंसा है। अथर्ववेदमें प्राचीन मूलधारासे यह विचार इस प्रकार लिया गया है :

"मा जीवेभ्यः प्रमदः।" (अथर्व ८.१.७)

जीवोंके प्रति प्रमादी मत बनो।

'प्रमाद' शब्द अपने समूचे अर्थमें अत्यन्त विशद है। अथर्ववेदमें हिंसा-के प्रकरणमें ठीक इसी शब्दका प्रयोग सांस्कृतिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है।

कृषि-कर्ममें लीन वेदकालीन गृहस्थ, भूमि जोतते हुए दयार्द्र और विनम्र होकर, सरल भावसे पुकार उठता है—

"यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥"

हे भूमि, मैं तुम्हें जहांसे खनूँ, वह शीघ्र ही (प्राणोंसे) हरा-भरा हो जाय। मैं तुम्हारे मर्मपर आघात न करूँ, मैं तुम्हारे हृदयको व्यथित न करूँ।

जिन वेदग्रन्थोंमें नरमेध और अश्वमेधका वर्णन है, उनमें इस दिव्य अहिंसाके दर्शन कर हम विमुग्ध हो जाते हैं।

वेदकी एक और विशेषता जो सदासे स्फूर्तिदायिनी रही है और आजके युगमें हमें जिसके महत्त्वको विशेष रूपसे समझना चाहिए, वह है वैदिक वाङ्मयमें ध्वनित तत्कालीन राष्ट्रकी प्रबुद्ध चेतना, तत्कालीन मानवका सबल व्यक्तित्व। पिछले ६० वर्षोंमें हमारे सामने जिस इतिहासकी आवृत्ति हुई है और आज हम इतिहासकी जिस धारासे गुजर रहे हैं, वह हमें प्रेरित करती है कि हम वेदवाणीमें आरम्भिक राष्ट्र-जागरणकी प्रभातीके स्वर सुनें और समझें कि राष्ट्रका उदय, संगठन और समुत्थान कैसे होता था।

उस दिन उस प्रबुद्ध मानवने अपनी मातृभूमिके साथ आत्मसात् होकर बालककी भाँति किलकारी भरी थी—

"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।" (अथ. १२.१.१२)

भूमि मेरी माता है, मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ।

उसने अपने नेताकी पुकार सुनी थी—

"उपसर्प मातरं भूमिम्।" (ऋ. १०.१८.१०)

मातृभूमिकी सेवा कर।

और उसने अन्य पृथ्वीपुत्रोंके साथ खड़े होकर प्रतिज्ञा की थी—

"यतेमहि स्वराज्ये।" (ऋ. ५.६६.६)

(आओ) हम स्वराज्यके लिए सदा प्रयत्नशील रहें।

अनेक देवताओंकी उपासना करनेवालोंके बीच उस स्वावलम्बी महा-महिम मानवने गर्वोन्नत स्वरमें कहा था :

"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋ. ४.३३.११)

बिना स्वयम् परिश्रम किये देवोंकी मैत्री प्राप्त नहीं होती।

और उसका इससे भी अधिक उन्नत और गौरवशील स्वर सुनाई देता है, अथर्ववेदमें—

"कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।" (अथ. ७.५२.८)

पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथमें और जय बाँयें हाथमें है ।

यह प्रतापी व्यक्ति जब अपने साहस और श्रमसे गृह-निर्माण करवाता था, तो प्रवेशके समय उसकी भावना दर्प और दम्भकी नहीं होती थी; वह अपने आत्म-सन्तोषकी आभासे दीप्त, कल्याणकारी तथा मैत्री भावसे सम्पन्न चक्षुसे ही इन घरोंको देखता था—

"गृहानैमि मनसा मोदमान, ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमतिः सुमेधाः ।
अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण गृहाणां पश्यन्पय उत्तरामि ॥"
(अथ. ३.२६.१)

मैं प्रसन्न मनसे घरमें आता हूँ; शक्ति और सामर्थ्यको पुष्ट करता, मतिमान् और मेधावी, कल्याणकारी और मैत्रीपूर्ण चक्षुसे इन्हें देखता हूँ और इनमें जो रस है, उसे ग्रहण करता हूँ ।

आश्चर्य नहीं कि यह स्नेहशील सुखी मानव प्रवासमें रहते हुए घर लौटनेके लिए आकुल हो उठता है—

"येषामध्येति प्रवसन् ।" (पैप्प० ३.२६.४)

(घर) जिनकी याद हमें प्रवासमें आती रहती है ।

इन उदारचेता मनुष्योंने धन और परिग्रहके प्रति कहीं-कहीं अद्भुत अलिप्साकी भावनाका प्रचार किया है । वेदके सहस्रों मन्त्रोंमें जहाँ सैकड़ों देवताओंसे अनेकानेक याचनाएँ की गयी हैं और जिन याचनाओं-आकांक्षाओंको अपरिमित प्रलोभनों द्वारा यज्ञ-साधकोंने इसलिए प्रेरित किया है कि उनकी प्राप्तिमें वह साझीदार थे, उन वेद-ग्रन्थों में उत्कृष्ट त्याग-भावना और अकिंचनत्व देखकर आधुनिक समाजवादकी नूतनता समाप्त हो जाती है । वैभवके प्रति उनका अनुभूत दृष्टिकोण है :—

"ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ।"
(ऋ. १०.११७.५)

राय (धन-सम्पत्ति) रथके पहियोंकी तरह आवर्तित होनेवाली है। कभी एकके पास रहती है, कभी दूसरेके पास।

केवल यही नहीं कहा कि—

"मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।" (यजु०४०.१)

किसीके धनपर मत ललचाओ,

किन्तु यह भी घोषित किया है कि जो स्वार्थी है उसका अन्न उपजाना व्यर्थ है। इस प्रकारका स्वार्थपूर्ण उत्पादन ही उस व्यक्तिका संहार करता है—

"मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।"

इस ऋषिकी वात्सल्यपूर्ण, आग्रहपूर्ण, स्वात्मानुभवपूर्ण वाणी देखिए; वह कहता है, "सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य"—"मैं सच कहता हूँ, इस प्रकारका स्वार्थपूर्ण अन्न-उत्पादन स्वयं उत्पादकका वध करा देता है।"

"नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।" (ऋ. १०.११७.६)

जो धनको न धर्ममें लगाता है, न अपने मित्रको देता है, जो 'केवलादी'—अपना ही पेट पालनेवाला है, वह 'केवलाघ—साक्षात् पापाहारी है।

इसीलिए इन अनुभवी पूर्वजोंने कर्मठ पुरुषोंके सामने आदर्श रखा था—

"शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।" (अथ. ३.२४.५.)

सैकड़ों हाथोंसे इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँट दो।

संक्षेपमें, अथर्ववेदके ब्रह्मर्षिने यहाँ तक व्यवस्था कर दी है—

"समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।"
(अथ.५.१९.६.)

तुम लोगोंका पानी समान हो, तुम्हारा अन्न समान हो। तुम सबको समान बन्धनमें बाँधता हूँ, तुम एक-दूसरेके साथ सम्बन्धित रहो।

इस मन्त्रके अर्थमें यदि यह सन्देह हो कि इस प्रकारका बन्धन, इस प्रकारका समान अन्न ही नहीं, पानी भी, मनुष्योंमें कैसे सार्थक होगा, तो पशुलोककी यह दूसरी उपमा सुनिए—

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाऽन्या ॥" (पैप्पलाद० ५.१९.१)

आप सबके बीचसे विद्वेपको हटाकर मैं सहृदयता और संमनस्कताका प्रचार करता हूँ, आप सब एक-दूसरेसे इस प्रकार प्रेम करें, जिस प्रकार गौ बछड़ेसे प्रीति करती है ।

सहज प्रश्न होता है, कौनसा समाजवाद या साम्यवाद ऐसा होगा, जो सिद्धान्त रूपमें इससे आगे जायगा ?

वैदिक साहित्यपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करते समय सबसे बड़ी कठिनाई यह आ उपस्थित होती है कि वेदके प्राय: प्रत्येक पहलूपर विवाद है और विविध मान्यताएँ हैं । संसारकी किसी भी भाषाका इतना विपुल साहित्य इतने प्राचीन रूपमें प्राप्त नहीं है । आर्योंने जिस महान् प्रयत्न, सूझ और श्रमसे इस साहित्यको सहस्राब्दियों तक सम्हाले रखा है, वह विश्वमें निराला उदाहरण है । मनुष्य अपने श्रममें नहीं चूका; पर प्रायः ऐसा हुआ है कि समय और परिस्थितियाँ उसे भटकाती रही हैं, उसे मुखर और मूक करती रही हैं । देशोंके मानचित्र इस प्रकार बदल गये कि आज उनके पूर्व रूपकी कल्पनाको कल्पना तक मानना कठिन हो गया है । साम्राज्य, संस्कृतियाँ और इतिहासकी परम्पराएँ परिवर्तित, ध्वस्त और नव-निर्मित होकर पुन: पुन: अनेक प्रत्यावर्तनोंको पार करती रही हैं । ऐसी स्थितिमें यह कहाँ सम्भव था कि प्राणोंकी रक्षासे भी लाचार मानव इतने विशाल और विस्तृत साहित्यको केवल कण्ठगत बनाये पीढ़ियोंके बाद पीढ़ियोंको उत्तराधिकारमें दिये चला जाय ? किन्तु यह आश्चर्य-जनक घटना घटी है और इसीलिए वेदका अस्तित्व विश्वका विस्मय है ! पर,

जब मूल वेदधारी मानवके वंशानुवंश, विजयकी प्रेरणा, पराजयकी प्रतारणा अथवा प्राणरक्षाके निमित्त आश्रय और अन्नकी खोजके कारण इधरसे उधर स्थानच्युत हुए, तो इन उपजातियोंका सम्बन्ध अपनी अन्य उप-जातियोंसे विच्छिन्न होता गया। कालान्तरमें परिवर्तित जलवायुके कारण नये उच्चारण और अन्य मानसिक अथवा परिस्थिति-जन्य कारणोंसे शब्द, अर्थ और भावमें नये परिवर्तन आये तथा मौलिक मान्यताओंमें भी अन्तर आ गया।

इस सम्बन्धमें कुछ बातें विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं :

१. वेदमन्त्रोंके शुद्ध उच्चारणपर अत्यन्त अधिक जोर दिया गया है और यहाँ तक कहा गया है कि स्वर और वर्णके अशुद्ध प्रयोगके कारण मन्त्र वज्र बनकर स्वयं यजमानका ही संहार कर देता है।

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।"

उदाहरण दिया गया है कि मन्त्रपाठीका अभिप्राय था कि इन्द्रशत्रु अर्थात् 'इन्द्रके शत्रुकी' वृद्धि हो; किन्तु जिस ढंगसे यह समासयुक्त शब्द पढ़ा गया, उसमें स्वरभेद हो गया और इन्द्रके शत्रु (वृत्रासुर) की अभिवृद्धि-की जगह स्वयं 'इन्द्र, जो शत्रु है—उसकी' अभिवृद्धि हो गयी। यजमान वृत्रासुर मारा गया।

वैदिक कालमें उच्चारणकी विभिन्नतासे भी 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का भेद किया जाता था। असुरोंको 'मृध्रवाचः' कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण-में पराजित असुरोंके युद्ध-क्रन्दनका उल्लेख है—

"ते असुरा आत्तवचसो हे अलवो हे अलव इति वदन्तः पराबभूवुः।"

अर्थात् वे असुर 'हे अलवो, हे अलवो' इस प्रकार कहते हुए पराजित हो गये।

असुरोंका अभिप्राय 'हे अरयः', (हे शत्रुओ) कहनेका है; किन्तु वह 'र' का 'ल' और 'य' का 'व' उच्चारण करते हैं और अरयः को अलवः बना देते हैं। मूल भाषा वही है।

अब कल्पना कीजिए कि शतपथ-ब्राह्मणका पाठ करनेवाला कोई द्विज भारतके किसी सीमाप्रान्तीय गाँवमें रहता है। वह देखता है कि मुसलमान 'अल्ला', 'अल्ला' पुकारते हैं और मुसलमान उसकी दृष्टिमें असुर तथा म्लेच्छ हैं ही, तो वह शतपथ-ब्राह्मणमें दिये उक्त वाक्यके आधारपर अलवा और अल्लाके उच्चारणकी समानता देखकर तत्काल यह धारणा बना सकता है कि वेदमें असुर-रूपमें मुसलमानोंका और उनके अल्लाहका वर्णन है। इस तरह उच्चारण-भेदके आधारपर अर्थभेद हो जायगा और इतिहास-का क्रम समझनेवाला यदि कोई व्यक्ति भूल सुझायगा तो विवाद खड़ा हो जायगा।

ऊपर हमने देखा कि वर्णके उच्चारणभेदकी बात तो दूर, मात्र स्वर-के उच्चारण-भेदसे यजमान वृत्र मारा गया। किन्तु वेदकी प्रचलित उच्चा-रण शैलियोंमें कहीं-कहीं वर्णोंके उच्चारणमें गम्भीर अन्तर है। यजुर्वेदकी वाजसनेयशाखाके अनुयायी 'ष' का उच्चारण 'ख' करते हैं। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' मन्त्रका उच्चारण वह करेंगे 'सहस्रशीरखा पुरुखः'। यह ठीक है कि इस विभिन्नताके समर्थनमें भी कोई शास्त्रीय व्यवस्था उपलब्ध होगी और यजमान घातसे बच जायगा; किन्तु भाषाशास्त्रीके निष्कर्षमें उस व्यवस्थासे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उसको यह मानना ही होगा कि कालान्तरमें वेदके मूल मन्त्रोंका पाठान्तर और अर्थान्तर हो गया।

२. यह तो रही स्वर, वर्ण और शब्दोंके परिवर्तनकी बात। वेदमन्त्रों-के अर्थके विषयमें तो विवाद सदासे ही चला आ रहा है। आश्चर्यजनक बात यह है कि जितना समय बीतता जाता है, जितनी अधिक छानबीन होती जा रही है, विवादका क्षेत्र उतना ही विस्तृत होता जा रहा है। संस्कृत

भाषाकी यह विलक्षणता है कि व्युत्पत्तिके आधारपर इसके प्रत्येक शब्दके अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। मूल धातुमें प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर सन्धि और विग्रह; आगम और परिहार द्वारा मनचाहा अर्थ लगाया जा सकता है। यद्यपि शब्द भावानुगामी हैं और व्यवहारमें लौकिक संस्कृतके शब्दोंके अर्थ भी निश्चित हैं; किन्तु विवाद उपस्थित हो जानेपर प्रत्येक पक्ष उसी शब्दमें अपना अर्थ आरोपित कर सकता है। यास्क-ने वेदार्थ करनेकी अनेक प्रणालियोंका और पक्षोंका उल्लेख किया है। वेदोंका अर्थ निम्नलिखित पक्षोंने अपने-अपने ढंगसे किया है और आदिसे अन्त तक अपने पक्षकी विचारप्रणालीकी सार्थकता वेदोंसे सिद्ध की है—

१. आधिदैवत	४. ऐतिहासिक	७. परिव्राजक
२. आध्यात्मिक	५. नैदान	८. पूर्वयाज्ञिक
३. आख्यानसमयपरक	६. नैरुक्त	९. याज्ञिक

स्वयं यास्कने लगभग एक दर्जन निरुक्तकारोंके मतका उल्लेख किया है और दिखाया है कि उन्होंने किस प्रकार एक शब्दके विभिन्न अर्थ करके मन्त्रोंको विभिन्नार्थक बनाया है। सायणके मतानुसार वेदोंमें तीन प्रकारकी भाषाओंका प्रयोग है—समाधि भाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा। उदाहरणार्थ, इन्द्रके विभिन्न अर्थ हैं—ईश्वर, देव, ज्ञान, विद्युत्। इसी तरह वृत्रके विभिन्न अर्थ असुर, अज्ञान, मेघ और असुरोंके राजा किये जाते हैं। पृश्निके इतने अर्थ हैं—मरुतोंकी माता, पृथ्वी, आकाश, मेघ। इसी तरह गौ शब्दके अर्थ गाय, किरण, जलधारा, इन्द्रिय और वाणी हैं। ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके १६४ वें सूक्तके पैंतालीसवें मन्त्रकी व्याख्या सायण और पतंजलिने ७ प्रकारसे की है। स्वामी दयानन्दने तो ऐतिहासिक या भौगोलिक नामोंका भी यौगिक अर्थ किया है। भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्रका अर्थ

वह क्रमशः मन, प्राण और काम करते है। अनेक यूरोपीय विद्वानों, विशेष-कर डाक्टर रेलेकी तो यह धारणा है कि वेदमें देवताओंके क्रियाकलाप वास्तवमें मनुष्यके मन और चैतन्यकी विभिन्न क्रियाओंके द्योतक हैं।

वेदार्थके सम्बन्धमें इतनी मतविभिन्नता देखकर और सम्भवतया वितण्डावादसे हताश होकर एक सम्प्रदाय ही ऐसा उत्पन्न हो गया—कौत्स सम्प्रदाय—जिसने प्रचार किया कि मन्त्रोंका कुछ अर्थ ही नहीं–"अनर्थ-का हि मन्त्राः।" उनका मत है कि वेदमन्त्रोंका मात्र उच्चारण कर देनेसे ही फलकी सिद्धि हो जाती है।

३. वेदोंके अर्थका विचार करते हुए इस बातको भी दृष्टिमें रखना बहुत आवश्यक है कि जो अर्थ किया जाय, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्वापर सम्बन्धकी उपयुक्ततासे, भाषाके विकास-क्रमकी स्थितिसे, पूर्वोत्तर विचार-धाराओंकी क्रमानुगत श्रृंखलासे तथा मन्त्र-रचयिता या मन्त्रद्रष्टाकी तत्का-लीन सम्भावित भौतिक तथा मानसिक परिस्थितियोंके सामंजस्य द्वारा समर्थित हो। खोज-शोध करनेवाले निष्पक्ष विद्वानोंका वैज्ञानिक दृष्टिकोण यही है। पर इस तरहका अनुशीलन बिना सारा जीवन खपाये बड़े-से-बड़े विद्वान्‌को भी उपलब्ध नहीं। इसके लिए वैदिक साहित्यके रचनाकालसे लेकर आजतक, अबतक, जो अनुशीलन हो चुका है, उन सबका ज्ञान होना चाहिए। कितना दीर्घकाल है यह, और कितनी विवादास्पद है इसकी दीर्घता! वेदोंका रचनाकाल श्रद्धालुओंकी दृष्टिमें अनादि, पाश्चात्य विद्वानों-की दृष्टिमें साढ़े तीन हजार वर्षसे लेकर पाँच हजार वर्ष तक, लोकमान्य तिलकके मतसे १० हजार वर्ष और पुस्तकके विद्वान् लेखक तथा भूमिका लेखकके मतसे यह समय २५ हजार वर्षसे ५० हजार वर्ष तक है। इतने लम्बे इतिहासकी परम्पराओंका सामंजस्य बिठाना तो दूर, इसकी स्थूल घटनाओंका ज्ञान प्राप्त करना भी कठिन है। तथ्यकी प्राप्ति तो और भी कठिन है।

कहते हैं, अंग्रेज जातिके पराक्रमी पर्यटक और विद्वान् सर वाल्टर रेले जब राजनीतिक विरोधके कारण 'टवर आफ लण्डन' के बन्दीगृहमें बन्द थे, तो उन्होंने अवकाशका सदुपयोग करनेके लिए संसारका इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। जब वह लिख रहे थे तो एक दिन जेलके दरवाजेपर उन्होंने हल्लागुल्ला सुना। खिड़कीसे झाँककर देखा तो कोई विशेष घटना घटित हो जानेके लक्षण नज़र आये। नीचे जाकर उन्होंने जेलरोंसे पूछा कि क्या बात है? जेलरोंने बताया कि किसी आदमीकी हत्या हो गयी है। आगे छानबीन की तो यह पता ही न चला कि हत्या कैसे और किसके द्वारा हुई। हताश होकर उन्होंने कहा, "जब मैं अपनी नाकके नीचे घटित घटनाका भी तथ्य मालूम न कर सका, तो मैं संसारका इतिहास क्या खाक लिखूँगा!" उन्होंने क़लम फेंक दी।

यदि वेद-सम्बन्धी मूल साहित्य भी पूरा-पूरा प्राप्त हो जाय, विशेषकर संहिताएँ और ब्राह्मणग्रन्थ तो मूलपाठों और व्याख्याओंके सादृश्यके आधार-पर बहुतसे अस्पष्ट स्थलोंका स्पष्टीकरण हो जाय। ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमें केवल १ और यजुर्वेदकी १०० शाखाओंमें केवल ५ ही उपलब्ध हैं। सामवेदकी एक हजार और अथर्ववेदकी ९ शाखाओंका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वेदकी ११३० शाखाओंकी सम्भावना मुक्तिकोपनिषद्के उल्लेखसे ध्वनित होती है। इनमेंसे केवल ११ संहिताएँ ही प्रकाशमें आयी हैं।

४. वैदिक साहित्य अपने समूचे आनुषंगिक ग्रन्थोंके प्रकाशमें जिस सभ्यता और संस्कृतिका दिग्दर्शन कराता है, वह सहस्राब्दियोंके क्रमिक विकासके आधारपर ही समझी जा सकती है। देशके विभिन्न प्रदेशोंमें, जातिके विभिन्न वर्गोंमें और समाजके विभिन्न स्तरोंमें अनेक समयोंमें अनेक प्रकारकी जीवनचर्या और उससे उत्पन्न होनेवाली सांस्कृतिक मान्यताएँ रही हैं। परम्पराएँ भी चली हैं और स्वतन्त्र चिन्तन भी चला है। **'स्तोमं जनयामि नव्यम्'**—(ऋ. १-१०९-२) में नया स्तोम बनाता

हूँ—यह कहनेवाला कवि और द्रष्टा पुरातन संस्कृतिको वहन करके ही सन्तुष्ट नहीं हुआ होगा, उसने उस संस्कृतिके विकासमें नई भावनाओं और नई प्रेरणाओंका सृजन भी किया होगा।

वैदिक साहित्यका बहुत बड़ा भाग यज्ञ, अनुष्ठान और क्रियाकाण्डके विधि-विधानोंसे सम्बन्धित है। ये विधान इतने गूढ़ और रहस्यमय थे अथवा यों कहें कि ये इतने दुर्बोध तथा दुर्गम बना लिये गये थे कि ब्राह्मणोंके अतिरिक्त अन्य किसी वर्गका इनपर अधिकार ही नहीं रह गया था और न कोई इनके विकासमें नये कृतित्वका योगदान दे सकता था। यथार्थ बात यह प्रतीत होती है कि वैदिक क्रियाकाण्डके समर्थक गुरु-पुरोहितोंने प्राणपणसे यही प्रयत्न किया है कि उनकी यज्ञानुष्ठानमयी संस्कृति जीवन और कालके परिवर्तनोंकी छायासे बची रहे और वह उनकी प्रतिष्ठा, अधिकार और अर्थोपार्जनका चिरन्तन साधन बनकर वंशके लिए धरोहरका काम करती रहे।

देशमें बसनेवाली बहुसंख्यक आर्येतर जातियोंके प्रबल प्रभावसे बचनेके लिए ही आर्योंने अपने ऊपर विधि-निषेधात्मक बन्धन लगाये थे। वर्णाश्रम-की व्यवस्था भी इसी उद्देश्यसे की गयी मालूम होती है। इस योजनाका लौकिक, आर्थिक या राजनीतिक उद्देश्य कुछ भी रहा हो, इसका एक सांस्कृतिक सुखद परिणाम यह निकला कि वेद-ग्रन्थोंकी धरोहर सुरक्षित रह सकी। यदि इतर जातियोंके तत्कालीन साहित्यका संसारसे लोप हो गया है, तो उसका एक कारण यह भी है कि उन जातियोंके साहित्यसर्जकों-को किसी ऐसी उद्दाम प्रेरणाका आकर्षण प्राप्त नहीं था, जो उनके वंशजों-के लिए अधिकार, अर्थ और धार्मिक नेतृत्वके अर्जन और संरक्षणकी आधारशिला हो सकती। इसीलिए वैदिक ऋत्विकोंके वंशजोंको उनकी सूझबूझ और नीतिज्ञताकी सराहना अवश्य करनी होगी। वेदके अन्य अध्येताओंके लिए भी ब्राह्मण-वर्गका यह महारथी प्रयत्न आकर्षणका विषय है।

५. जैसा कि ऊपर लिखा गया है, वैदिक संस्कृतिके व्यावहारिक रूपमें यज्ञानुष्ठानोंका विस्तृत विधि-विधान बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। सोम, हवि और पाक संस्थाओंके सात-सात यज्ञोंकी गणनाके अनुसार नीचे लिखे २१ प्रकारके यज्ञोंका विस्तृत वर्णन वैदिक साहित्यमें मिलता है।

१ अग्निष्टोम, २ अत्यग्निष्टोम, ३ उक्थ्य, ४ षोडशी, ५ वाजपेय, ६ अतिरात्र, ७ आप्तोर्याम, ८ अग्न्याधेय, ९ अग्निहोत्र, १० दर्श, ११ पौर्णमास, १२ आग्रायण, १३ चातुर्मास्य, १४ पशुबन्ध, १५ सायंहोम, १६ प्रातर्होम, १७ स्थालीपाक, १८ नवयज्ञ, १९ वैश्वदेव, २० पितृयज्ञ और २१ अष्टका।

प्रत्येक अनुष्ठानमें कितने प्रकारकी क्रियाएँ होती थीं और प्रत्येक क्रियाके लिए किस प्रकार अलग-अलग मंत्रोंका और अनुयोगोंका विधान था, इसका अनुमान उन ४६ क्रियाओंकी सूचीसे लगेगा, जो दर्श या पौर्ण-मासके (क्योंकि कहीं-कहीं दोनोंको एक माना गया है) यज्ञके अनुष्ठानमें करनी पड़ती है।

जिन यज्ञोंके अनुष्ठानके लिए इतने लम्बे-चौड़े क्रियाकाण्डका उल्लेख है, उनके सम्बन्धमें यह भी अभी विवादग्रस्त है कि इन यज्ञोंमें पशुबलि होती थी या नहीं। ऐतिहासिक दृष्टिसे वेदोंका अध्ययन करनेवालोंका स्पष्ट मत है कि वेदोंमें नरमेध, अश्वमेध और अजमेध यज्ञसे मनुष्यकी, घोड़ेकी और बकरेकी आहुतिसे अभिप्राय है। ऋग्वेदमें 'पक्वं वाजिनम्'से 'पकाये हुए घोड़े'के खानेका अभिप्राय झलकता है। पर, आजके दिन लाखों शाकाहारी ब्राह्मणोंका मत है कि (१) यज्ञोंमें जीव-वध नहीं होता था। नर, अश्व और अज शब्दोंका आध्यात्मिक अर्थ है। पशुबलिके स्पष्ट उल्लेखका परि-हार इस प्रकार भी किया जाता है कि (२) पशुयज्ञोंमें आटेके पिंड आदि-का अनुकल्प (बदल) चलता था या (३) पशुबलिका विधान तामसिक लोगोंके लिए था अथवा यह कि (४) कलियुगमें पशुबलिका निषेध है। विद्वान् लेखकने अभिमत दिया है, "लेखकके मतसे चारों उत्तर

यथास्थल ठीक हो सकते हैं।" अर्थात् विवादकी सामग्री यथावत् मौजूद है।

तटस्थ दृष्टिसे देखें तो समझ जायँगे कि यज्ञकी भावना, यज्ञके दार्शनिक आधार और धार्मिक प्रयोजनके पीछे विकासका एक लम्बा इतिहास है। वैदिक यज्ञोंके लम्बे और गूढ़ क्रियाकाण्डको कितना ही बाँधकर और शिकंजेमें कसकर रखा गया हो, यज्ञकी आधारभूत मूलभावनाओंमें चूड़ान्त परिवर्तन होता रहा है। मनुष्यकी बलिसे लेकर वनस्पतियों द्वारा यज्ञ सम्पादित करनेके शास्त्रीय विधान तक पहुँचते-पहुँचते मनुष्यको अनेक महती और भीषण धार्मिक क्रान्तियोंमेंसे गुजरना पड़ा होगा। यह भी स्पष्ट है कि इस क्रान्तिके नेतृत्व और सफल सम्पादनमें उन मनीषियोंका प्रभाव उत्तरोत्तर क्रियाशील होता रहा होगा, जो अहिंसक संस्कृतिके अनुयायी या समर्थक थे। इस विकास-प्रयत्नकी झाँकी हमें शतपथमें ही मिल जाती है।

"आदिमें बलिके लिए पुरुष या ईश्वर मनुष्यके शरीरमें गया। परन्तु तन्नारोचत—वह उसको अच्छा नहीं लगा। फिर वह गऊके शरीरमें गया। वह भी अच्छा नहीं लगा। इसके बाद घोड़े, फिर भेड़, बकरीके शरीरोंको छोड़ा। अन्तमें उसने ओषधियोंमें प्रवेश किया। यह उसे अच्छा लगा। इस छोटेसे आख्यानमें उन सैकड़ों या हज़ारों वर्षोंका इतिहास बन्द है, जिनमें नरमेधसे आर्ययाजक फल, फूल, पत्तियोंकी बलि या हवि तक पहुँचे।" (श्रीसम्पूर्णानन्द लिखित 'आर्योंका आदि देश', पृष्ठ २३८)।

गीताके समय तक पहुँचते-पहुँचते यज्ञ शब्दके अर्थमें, यज्ञके प्रयोजनमें ही आमूल परिवर्तन हो गया। इसका भाव हो गया, **'निःस्वार्थ पूजन'**। महात्मा गाँधीने इस भावको और आगे बढ़ाया और यज्ञका अर्थ किया, **'परोपकार'**। गीताने यज्ञका अर्थ और प्रयोजन ही नहीं बदला, उसने क्रियाकाण्डका सर्वथा परिहार भी कर दिया। इससे भी

अपितु उसने वैदिक देवताओंकी उपासनाका भी बन्धन नहीं रखा। गीता-ने कहा—

"येऽप्यन्यदेवता-भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥" ८.२३.

हे कौन्तेय! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताको भजते हैं, वे भी भले ही विधिरहित भजें, मुझे ही भजते हैं।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गीता एक उपनिषद् है; अतः वेदका महत्त्वपूर्ण अंग है। गीताका कथन वेदका ही कथन है।

किन्तु यहाँ ऋग्वेदकी यह याचना—

"यावया वृक्यं वृकं यवस्तेन मूर्म्ये अथा नः सुतरा भव।"
(ऋ० १०.१२७.६)

हमसे भेड़ियोंको दूर करो, चोरोंको दूर करो, हे रात्रि, हमारे लिए पार जाने योग्य (सुतर) बनो।

और कहाँ गीताका निष्काम कर्म, त्याग-भावनायुक्त पूजन, क्रिया-काण्डका अभाव और देवताओंकी मान्यताके सम्बन्धमें छूट।

यह ठीक है कि गीताने जिस दर्शनका विकसित रूप उपस्थित किया, वह दर्शन वेदोंमें बीज रूपसे है; किन्तु वह तो संस्कृतिका आभ्यन्तर रूप है। वेदोंमें संस्कृतिका जो बाह्य और व्यावहारिक रूप है, वह यज्ञोंके सविधि अनुष्ठान और अनेक देवता-शक्तियोंकी निर्दिष्ट उपासनापर आश्रित है। जैसा कि ऊपर दिखाया है कि स्वयं वैदिक परम्परामें मन्त्रोंके अर्थों, यज्ञके प्रयोजनों, देवताओंकी पूजाभावना और कर्मकाण्डकी उपयोगिता आदिके विषयमें विभिन्न मत हैं, जो संस्कृतिके मूलाधार हैं। ऐसी अवस्था-में संस्कृतिके किस रूपको और किस मान्यताको वैदिक संस्कृति समझा जाय? वेदमें आस्था रखने और वेदको अन्तिम प्रमाण माननेके लिए वैदिक युगकी किस संस्कृति और संस्कृतिकी कौन-सी मान्यताको वैदिक संस्कृति माना जाय और किसे न माना जाय?

५

विद्वद्वर सम्पूर्णानन्दजीने 'आमुख' में लिखा है—

"ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार न करनेवाला भी हिन्दू हो सकता है; परन्तु वेदको न माननेवाला हिन्दू नहीं हो सकता। लोकमान्य तिलकके शब्दोंमें "प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु"—वेदोंको स्वतः प्रमाण मानना, हिन्दू होनेका अव्यभिचारी लक्षण है।"

'वैदिक साहित्य'के लेखक श्री रामगोविन्दजी त्रिवेदीने भी श्री सावरकरके 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला है—

"इस दृष्टिसे तो आर्य शब्दसे हिन्दू शब्द नवीनतर नहीं है। फलतः हिन्दूधर्मका अर्थ वैदिक धर्म है और हिन्दूसंस्कृतिका अर्थ वैदिक संस्कृति है।" (पृष्ठ ३४३)।

श्री सम्पूर्णानन्दजी ने लोकमान्य तिलकके मतका उल्लेख करते हुए जो वेदोंको स्वतः प्रमाण माननेवालोंको ही हिन्दू कहा है और श्री त्रिवेदीजीने वैदिक संस्कृतिका अर्थ हिन्दू-संस्कृति किया, उसे स्वीकार करनेमें जो आपत्तियाँ हैं, उनपर विचार करना आवश्यक है।

स्वयं श्री त्रिवेदीजीने लोकमान्य तिलकके मन्तव्यों और निष्कर्षोंका उल्लेख पुस्तकमें किया है, जिनके अनुसार निम्नलिखित बातोंकी प्रामाणिकता वेद-सिद्ध है—

१. अधिकारि-भेद अथवा उपासनाकी शैलीमें रुचि-स्वातन्त्र्य।

२. उपास्य देवताके विषयमें नियमका अभाव अर्थात् जो जिस देवको माने, उसीकी उपासना करता रहे।

३. वैदिक धर्मके मूल प्रवर्तकका अभाव।

४. वैदिक धर्मका सब धर्मोंसे अविरोध।

इसका यह अर्थ हुआ कि वेदमें सब देवोंकी सब प्रकारकी धार्मिक उपासनाको समर्थन प्राप्त है और वेदका किसी धर्मकी किसी मान्यतासे विरोध नहीं। तब फिर वेद इस मान्यताके समर्थनके लिए भी प्रमाण बन जाते हैं कि संसारमें जितने भी धर्म और दर्शन हैं, चाहे वे वैदिक हों

या अवैदिक, आर्य हों या आर्येतर, भारतीय हों या अभारतीय, सब वैदिक हैं। ऐसी अवस्थामें वेदको प्रमाण माननेका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। ईश्वर, यज्ञ, धर्म और नैतिकताको न माननेवाला हिन्दू-ब्राह्मण वेदको किसलिए, किस बातका प्रमाण मानेगा, यह समझमें नहीं आता। फिर भी वह हिन्दू ही रहेगा। उसके हिन्दुत्वका वेदकी प्रामाणिकतासे कोई सम्बन्ध नहीं।

वास्तवमें 'वैदिक' और 'हिन्दू' शब्दोंको समानार्थक मानना ठीक नहीं; क्योंकि वैदिक शब्द एक विशेष प्रकारकी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं और मान्यताओंका द्योतक है या कालपरक शब्द है, जब कि हिन्दू शब्द प्रधानतः भौगोलिक सीमाओंका संकेत करनेवाला, देश या तद्देशवर्ती जनताका द्योतक है। यह बात अब प्रायः सभी शिक्षित व्यक्ति जानते हैं कि मूलतः सिन्धु शब्दसे ही हिन्दू शब्द बना है; क्योंकि प्राचीनकालमें बाबुलके लोग (बैबिलोनियन) हमारे इस देशको सिन्धु कहते थे और वैदिक सिन्धु हीका पारसियोंकी भाषामें 'हिन्दू' उच्चारण पाया जाता है। सिन्धु अथवा हिन्दू नदीकी सीमाके आधारपर उस पार बसनेवाले जनसमुदायको पारसियों, यूनानियों आदिने हिन्दू कहा।

यों तो हिन्दू शब्दकी व्याख्या इस प्रकार भी की गयी है :

"हिंसया दूयते चित्तं तेन हिन्दुरितीरितः।"

जिसका चित्त हिंसासे दुखे, वही हिन्दू है,

किन्तु सबसे सरल, निर्विवाद और सम्भवतया आजतक उपलब्ध ऐतिहासिक सत्यके सबसे अधिक निकट जो परिभाषा हुई है, वह श्रीसावरकरकी है। उन्होंने घोषित किया है :

"आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥"

अर्थात् सिन्धु नदसे लेकर सिन्धु (सागर = कन्याकुमारी) पर्यन्त भारत-भूमिको अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि माननेवाला व्यक्ति हिन्दू है।

राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे और धार्मिक तीर्थोंके अस्तित्वकी दृष्टिसे भारत-वर्ष वैदिक आर्यों (जिनके पश्चिमोत्तर यूरोप, एशिया माइनर और उत्तरी ध्रुवप्रदेशसे आकर बसनेकी मान्यता विद्वानोंमें प्रचलित है) की अपेक्षा उन व्यक्तियोंकी पितृभूमि और पुण्यभूमि निश्चित रूपसे अधिक है, जिनके पूर्वज भारतवर्षके मूलनिवासी माने जाते हैं।

इतिहास और पुराण साक्षी हैं कि इस देशका नाम 'भारतवर्ष' राजा भरतके नामपर निर्धारित है। भरत उन ऋषभ भगवानके पुत्र थे, जिन्हें आदिब्रह्मा कहा गया है। ऋषभ जैनधर्मके प्रथम तीर्थङ्कर हैं। इनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें निम्नलिखित शब्दोंमें आया है :

"इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत
ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसो समस्तदुश्चरितानि हरणम्।"

इस तरह (हे परीक्षित) सम्पूर्ण वेद, लोक, देव, ब्राह्मण और गौके परम गुरु भगवान् ऋषभदेवका यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया। यह मनुष्योंके समस्त पापोंको हरनेवाला है।

इन भगवान् ऋषभदेवके गृहत्याग और दिगम्बरत्वके विषयमें वहाँ लिखा है :

"उन्होंने केवल शरीरमात्रका परिग्रह रखा और सब कुछ घरपर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रोंका भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्तका-सा वेश था। इस स्थितिमें वे आहवनीय, अग्निहोत्रकी अग्नियोंको अपनेमें ही लीन करके संन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त देशसे बाहर निकल गये।" (भागवतका अनुवाद ५.२८)।

आगे चलकर लिखा है कि योगमायासे भगवानका शरीर अनेक देशोंमें विचरता रहा और वह दैववश कोंक, वैंक और कुटक आदि दक्षिण कर्णाटकके देशोंमें गया।

यदि हम उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रीके आधारपर उक्त वर्णनका

भाव देखें तो पता लगेगा कि दिगम्बरी अवस्थामें भगवान ऋषभदेवने कोंक, वेंक, कुटक और दक्षिण भारतमें जिस धर्मका प्रचार किया था, वह वेदोंमें निर्दिष्ट व्रात्यधर्म था, जो भारतवर्षके प्राचीनतर मूल निवासियोंकी नाग, यक्ष, द्रविड़ और राक्षस नामक जातियोंमें प्रचलित हुआ। व्रात्यका अर्थ था व्रतमें दीक्षित।

अथर्ववेदमें व्रात्यके सम्बन्धमें लिखा है—

"व्रात्य आसीदीयमान् एव स प्रजापतिं समैरयत्।" (१५,१)

अर्थात् व्रात्यने अपने पर्यटनमें प्रजापतिको शिक्षा और प्रेरणा दी। सायणने इस पदकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं
कर्म परैर्ब्राह्मणविद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।"

अर्थात् यहाँ उस व्रात्यसे मन्तव्य है जो विद्वानोंमें उत्तम, महाधिकारी पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं।

इन व्रात्य मुनियोंका जहाँ-जहाँ वर्णन आया है, उसमें इनकी यही विशेषता दिखायी है कि वे शरीरसे निर्मोह, योगियोंकी तरह विचरते थे और इन्द्रियनिग्रह, त्याग, त्रिगुप्ति (मन, वचन, कायको संयत रखने) का उपदेश देते फिरते थे। यह वर्णन ऊपर दिये गये भगवान ऋषभदेवके वर्णनसे मिलता-जुलता है, जिससे प्रकट होता है कि यह उनके व्रतमें दीक्षित साधुओं और मुनियोंका वर्णन है। यह वेदको नहीं मानते थे, यह भी स्पष्ट है।

सम्भवतया इन्हीं व्रात्योंका वेदमें 'अन्यव्रत' नामसे उल्लेख है, जिनके विरुद्ध बहुत चुभती हुई भाषाका प्रयोग किया गया है :

"अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः
त्वं तस्या मित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय।"

यह हमारा अपमान करनेवाला दस्यु अकर्मा (गृहत्यागी), अन्यव्रत

(दूसरे व्रत-धर्ममें दीक्षित) और अमानुष (दूसरी जातिका) है। हे इन्द्र, तुम इस शत्रुका, इस दासका, वध करो।

इस प्रसंगसे यह मालूम होता है कि दक्षिण देशका साधारण जन-समाज, विशेषकर वैदिक कालसे पूर्वके मूल निवासी बहुसंख्यामें व्रात्योंके अनुयायी थे और उनका प्रभाव वैदिकोंमें भी इतना अधिक बढ़ गया था कि अपनी आस्था और कर्मकाण्डके अक्षुण्ण रक्षणमें तत्पर याज्ञिक पुरोहित इस प्रभावके आघातसे विचलित हो गये थे।

वैदिक धर्मकी मान्यताको अस्वीकार करनेवाले एक और वर्गका उल्लेख वेदोंमें आता है, जिन्हें 'पणि' कहा गया है। बादमें इनका नाम 'पणिक' और उसके बाद 'वणिक' हो गया मालूम होता है। ये लोग व्यापारी थे। हमारे साहित्यमें पणस् (बेचने योग्य वस्तु), पण्यशाला (दूकान या हाट), पण्यपति (व्यापारी) आदि शब्द इसी अर्थके द्योतक हैं। पणियोंके सम्बन्धमें वेदमें जिस प्रकारका उल्लेख आता है, उससे धारणा बनती है कि ये लोग पूर्वी समुद्रके किनारेके आस-पास रहते थे। बल इनका वीर नेता था। यह वैदिक देवता इन्द्रको नहीं मानते थे। ये धन कमाने तथा पशु-संग्रहमें निपुण थे।

व्यापार-कुशल पणियोंने पूर्वी और दक्षिणी समुद्रके सुदीर्घ तटोंपर बस्तियाँ बसायीं और अन्य देशोंसे व्यापार सम्बन्ध जोड़ा था। वेदमें एक मनोरंजक उल्लेख मिलता है कि जब पणि लोग बृहस्पतिकी गायें उठा ले गये, तो इन्द्रने सरमा नामक दूतीको पता लगानेके लिए भेजा। सरमाने पता लगा लिया और पणियोंसे कहा—'इन्द्रने गायें मँगायी हैं, वापिस दो।' इसपर पणियोंने उत्सुक होकर पूछा :

"कीदृङ् इन्द्रः सरमे कादृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।"

हे सरमे, जिस इन्द्रकी दूती बनकर तुम इतनी दूरसे आयी हो, वह इन्द्र कैसा है और उसकी सेना कैसी है ?

अर्थात् पणि लोग इन्द्रको जानते ही नहीं थे। इसीलिए उन्हें 'अनिन्द्र' (इन्द्रको न माननेवाले) कहा है।

"दहामि संयहीरनिन्द्रा।"

जो अन-इन्द्र हैं, उन्हें जला देता हूँ और उनका संहार कर देता हूँ।

पणि लोग यदि मूल रूपसे आर्य नहीं थे, तो भी इतना तो सिद्ध होता है कि आर्योंसे इनका सम्पर्क था। यह सम्पर्क अमैत्रीका था, जिसका प्रधान कारण पणियोंकी अवैदिकीय मान्यता और इन्द्रकी अवहेलना था। यह अवैदिकीय संस्कृति इन पणियोंको कहाँसे मिली ?

इस प्रश्नका उत्तर हमें इस छानबीनसे मिलेगा कि पणियोंका सम्पर्क आर्योंके अतिरिक्त अन्य किसी जातिसे था या नहीं। यह बात ध्यानमें रखनी होगी कि वेदमें जितना भूगोल मिलता है अथवा वैदिक जातिका क्रीड़ास्थल जितना क्षेत्र था, भारतवर्ष उतना ही नहीं था। पूर्वी और दक्षिणी समुद्रके आसपास विन्ध्यगिरिकी उपत्यकाओंमें और दक्षिण भारतमें एक प्राचीनतर संस्कृतिका प्रचलन था, जिसके उत्तराधिकारी उस देशखण्डकी मूल जातियाँ यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नाग और द्रविड़ आदि थीं। इन जातियों और उपजातियोंकी सभ्यताको आज 'द्रविड़ सभ्यता' के सामूहिक नामसे उपलक्षित किया जाता है। उस सभ्यताका कोई वेद जैसा प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशमें नहीं आया है। शताब्दियोंसे उत्तर भारतका जो महत्त्व रहा है, उसने दक्षिण भारतके वैभवको, उसकी विशाल संस्कृतिको, उपेक्षाके तमिस्रपटसे आवृत रखा है। वैदिक कालमें इन जातियोंका प्रभाव उपेक्षणीय नहीं था, यह इसी बातसे प्रकट है कि वेदके सैकड़ों मन्त्रोंमें अत्यन्त करुण रूपसे प्रार्थना की गयी है कि वेदमें आस्था न रखनेवाले, यज्ञविरोधी, 'अव्रतों' 'अन्यव्रतों' और 'अनिन्द्रों' का विनाश हो, उनसे हमारी रक्षा हो और वे हमारा अपमान न करें आदि। सम्भवतया वेदेतर संस्कृतिके अनुयायी द्रविड़ोंका प्रभाव पणियोंपर पड़ा था और इसीलिए पणि भी 'अनिन्द्र'

(इन्द्रको न माननेवाले) हो गये थे। श्रीसम्पूर्णानन्दने 'आर्योंका आदि देश'में लिखा है :—

"राजपूताना समुद्रके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर इन पणियोंको वह द्रविड़ मिले होंगे, जो यहाँ पहलेसे बसे थे। इनके साथ मिलकर राष्ट्रमें भी संकरता आयी होगी और संस्कृतिमें भी।"

यह इतिहास-सम्मत है कि पणि लोग समुद्र पारकर दूर देशोंमें गये हैं और वहाँ अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित की है।

सुमेर, अक्काद, ईराक, ईरान, यूनान और बैबिलोन आदि प्राचीन सभ्यताओंके सम्बन्धमें गत एक शताब्दीमें यूरोपके विद्वानों, अन्वेषकों और पुरातत्त्वविदोंने जो अध्ययन किया है, उसका मूलाधार वह पुरातत्त्व-सामग्री है, जो उक्त देश-प्रदेशोंकी खुदाइयोंमें समय-समयपर प्राप्त हुई है। यहाँसे प्राप्त मूर्तियोंके गठन, आकृति और शैलीमें दक्षिण भारतकी आकृति और शैलीकी समानता देखकर विद्वान् विस्मित थे। समझमें नहीं आता था कि सुमेर, अक्कादसे लेकर दक्षिण भारततक व्याप्त यह सांस्कृतिक प्रभाव और सम्पर्क कब कहाँसे प्रारम्भ हुआ और कहाँ समाप्त हुआ। भारतवर्षमें जो स्तूप, मूर्तियाँ और स्थापत्यके भग्नावशेष मिले, वह दो-ढाई हजार वर्षोंसे अधिक पुराने नहीं थे। यह सब मौर्यकालीन सामग्री थी, जब कि उक्त विदेशी प्रदेशोंमें प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्री ४—५ हजार वर्ष पुरानी थी। बीचकी कड़ी हमें मिल नहीं रही थी।

दक्षिण भारत और सुमेर—अक्कादकी मूर्तियोंमें जो साम्य है, उसकी व्याख्या करनेवाली मध्यवर्ती कड़ी हमें महेंजोदरो और हरप्पाके भग्नावशेषोंमें मिल गयी। महेंजोदरो (सिन्धमें लरकाना जिला) की खोज और खुदाईने भारतीय इतिहासके मूर्त पुरातत्त्वपर लगभग ६ हजार वर्षोंकी प्राचीनताकी छाप लगा दी। महेंजोदरोके प्रकाशमें आनेसे पूर्व हमारा पुरातत्त्व-अध्ययन मौर्यकालीन कलासे प्रारम्भ होता था। अब हम भी

सुमेर, अक्काद और बैबिलोनियनोंके मुक़ाबलेमें अपने खंडहरोंकी बुजुर्गीसे अपनी कलाका बड़प्पन प्रमाणित कर सकते हैं।

सर जान मार्शलने महेंजोदरोकी खुदाइयोंका विस्तृत विवरण 'महेंजोदरो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन' नामक ग्रन्थकी तीन जिल्दोंमें दिया है। मार्शलने महेंजोदरोकी खुदाईके विभिन्न स्तरोंसे प्राप्त मूर्तियों और सिक्कोंके चित्र प्रकाशित किये हैं। यों तो ये सभी चित्र भारतीय संस्कृतिके अध्ययनके लिए अनिवार्य और अमूल्य हैं, किन्तु हमारे प्रयोजनके लिए वहाँसे प्राप्त कुछ मूर्तियोंका उल्लेख करना अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है। पहली जिल्दकी १२ वीं प्लेटकी १३, १४, १५, १८, १९ और २२वीं टैब्लेट्स (टिकड़ों) में जो मूर्तिचित्र दिये गये हैं, वह ऐसे योगियोंके हैं, जो कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रामें हैं, ध्यानमग्न हैं और नग्नदिगम्बर हैं। मूर्तियाँ जटा युक्त हैं। कहीं सिरपर, कहीं पार्श्वमें त्रिशूल बने हैं। हाथी, हिरण, बैल, सिंह आदि पशुओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं। धर्मचक्र और विनीत भावसे बैठे उपासक-उपासिकाओंके चित्र भी अंकित हैं। मूर्तियोंके दिगम्बर अवस्थामें होनेके कारण तत्काल ही धारणा बनती है कि यह जैन-मूर्तियाँ हैं। इस धारणाकी पुष्टि इस बातसे भी होती है कि कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी अवस्थामें ध्यानमग्नमूर्तियाँ, जिनके आजानुबाहु नीचे लटके हुए हों, पलकें इस प्रकार नीचे झुकी हुई हों कि दृष्टिका केन्द्र नाकका अगला भाग हो, जैन-मूर्तियोंकी लक्षणशैलीकी विशेषता है। दक्षिण भारतमें श्रवण-बेलगोलामें ऋषभ-पुत्र भरतके छोटे भाई बाहुबलिकी विशाल कायोत्सर्ग दिगम्बर मूर्ति, जो 'गोमट्ट' नामसे प्रसिद्ध है, इस ध्यानमग्न मुद्राका उदाहरण है। महेंजोदरोसे प्राप्त मूर्तियोंकी एक और विशेषता यह है कि इन मूर्तियोंपर या तो फणधारी नाग अंकित हैं या इनके उपासकोंके सिरपर नागफण बनाकर यह लक्षित किया गया है कि ये उपासक नागवंशी हैं। जैनमूर्तियोंमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी मूर्तियोंके सिरपर नागफणका आच्छादन दिखाया जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि तपस्याके समय

जब भगवान पार्श्वपर उनकी अहिंसक संस्कृतिके विरोधी कमठ नामक साधुने उपसर्ग किया था, तो नाग-जातिके राजा या नेता धरणेंद्रने रक्षा की थी। नागफण इसीका प्रतीक है। यह नागजाति, भारतके प्राग्वैदिक कालके निवासियोंकी वंशज हैं, जिनकी संस्कृति वैदिक संस्कृतिसे भिन्न थी। हो सकता है, पार्श्वनाथ इसी नाग जातिकी विभूति हों। जैन-मूर्तियोंपर गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि संस्कृति-रक्षक शासनदेवता और २४ तीर्थंकरोंके प्रतीक चिह्न बैल, हाथी, घोड़ा, हिरण, सर्प, सिंह आदिके चिह्न तथा उन चैत्य वृक्षोंका अंकन रहता है, जिनका संबंध प्रत्येक तीर्थंकरके ध्यानस्थलसे है अर्थात् उस वृक्षसे, जिसके नीचे ध्यान-धारणा करते हुए उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया। महेंजोदरोकी मूर्तियोंमें इन प्रतीक-चिह्नों और चैत्य-वृक्षोंके अंकनकी बहुलता है। बहुत सम्भव है कि महेंजोदरोमें प्राप्त जटाजूटधारी दिगम्बर मूर्ति उन्हीं आदिब्रह्मा ऋषभकी हो, जिनका उल्लेख श्रीमद्भागवतके आधारपर इस लेखमें अन्यत्र किया गया है। ऋषभ भगवानका चिह्न वृषभ (बैल) है। यही बैल नन्दी रूपसे शिवका चिह्न है। ऋषभनाथके संबंधमें भारतीय साहित्यमें यह भी मान्यता है कि उन्होंने समाजकी व्यवस्थाकी और कृषिकर्मकी शिक्षा दी। कृषिके लिए बैलकी जो अद्भुत महत्ता है, उसके उपलक्षमें उसे देशका 'शिव' (कल्याण) मान लिया गया है और उस चिह्नको ऋषभ भगवान-की मूर्तिके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। ऋषभने जिस त्रिभेद-संयम अर्थात् मन, वचन, कायको वशमें रखनेका उपदेश दिया है, वहीं उनका त्रिदंड या त्रिशूल है। महेंजोदरोकी ध्यानस्थ योगी मूर्तियोंके सिरपर अवस्थित जिस त्रिकोणको जान मार्शलने सींग समझा है, वह उक्त त्रिशूल हो सकता है। यह बहुत सम्भव है कि कालान्तरमें ऋषभ और शिवके दो रूपोंकी अलग-अलग मान्यता लेकर दो प्रकारकी मूर्तियाँ बन गयी हों और ऋषभके व्रात्य सम्प्रदायसे शिव या रुद्रका सम्प्रदाय भिन्न हो गया हो।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि महेंजोदरो जिस प्राचीनतम संस्कृति-का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है, उसमें ध्यानस्थ दिगम्बर योगियोंकी या शिवकी प्रधानता है, उसमें यज्ञ और हवनकी अपेक्षा मूर्तिपूजाको उपासनाका माध्यम माना है। वैदिक इन्द्रादिकी मुख्यता नहीं है। गायकी अपेक्षा बैलका अधिक महत्त्व है। मनुष्याकृतियों और मूर्तियोंका साम्य वैदिक आर्यकी अपेक्षा दक्षिणके द्रविड़ोंसे अधिक है। यह इस बातका प्रमाण है कि महेंजोदरोकी संस्कृति जिस सुमेर, अक्काद और चाल्डियन संस्कृतिका पूर्व रूप (अथवा वाडेलके अनुसार उत्तर रूप) है, उसका सीधा सम्बन्ध दक्षिण और पूर्व भारतकी मूल जातियोंकी संस्कृतिसे बैठता है, जिनकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे अधिक उन्नत और समृद्ध थी और जिनका सांस्कृतिक विकास अधिक वैज्ञानिक, प्रकृत और उच्च स्तरपर था। यह कैसे संभव है कि इस संस्कृतिने वैदिक संस्कृतिके ताने-बानेको अपने रँगमें न रँग लिया हो और यज्ञानुष्ठानके अतिरिक्त जो दार्शनिकता, नैतिकता और मानवता वेदोंमें ध्वनित होती है, वह इस संस्कृतिसे न प्रभावित हो ? वैदिक कालमें कई सांस्कृतिक युग हुए होंगे और आचार-विचारमें गम्भीर परिवर्तन हुआ होगा।

आज हम पाते हैं कि स्वयं वैदिक धर्मको माननेवाले हिन्दुओंकी धार्मिक आस्था, आचार-विचार और दार्शनिक दृष्टिकोणमें वैदिककालीन संस्कृतिके तत्त्वोंका अभाव है। कुछ उदाहरण लीजिए। वैदिक परम्परामें इन्द्रकी उपासना मुख्य है; आज शिव या दुर्गाकी पूजा होती है। वेदोंमें शिवपुत्र गणेश या विनायकको उपद्रवी कहा गया है; पर आज बिना गणेश-वन्दनाके कोई मङ्गलकार्य प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। आजकल गङ्गाको पतितपावनी और मोक्षदायिनी कहा जाता है, वैदिक कालमें गङ्गाका कोई महत्त्व ही नहीं था। उस जमानेमें सिन्धु और सरस्वतीकी धूम थी। आज हिमालय शिवका महान पर्वत है और शिवधाम है, वैदिक युगमें यह आँखोंमें ही नहीं चढ़ता था—उस समय

विन्ध्यकी महत्ता थी। वैदिक लोग पुण्य करके यमपुरी जाते थे; आज वह पापियोंका नरक-धाम है। आज यदि कोई कुत्तोंपर बोझ लादे, गधोंसे रथ खिचवाये और घोड़ोंसे हल चलवाये, तो उसे लोग जंगली कह दें और एक विनोदपूर्ण तमाशा लग जाय; किन्तु वैदिक आर्योंकी यह साधारण दिनचर्या थी। वैदिक युगमें उष्णीष (पगड़ी) और द्रापी (बण्डी) का फैशन था। आज हम टोपी और कुरता पहनते हैं; पर यह नहीं जानते कि टोपी और कुरता किस भाषाके शब्द हैं और कहाँसे आये!

कलाके क्षेत्रमें हम भारतीय संगीतको विश्व-संगीतमें बहुत ऊँचा स्थान देते हैं और अभिमानके साथ कहते हैं कि हमारा संगीत सामवेदसे उत्पन्न हुआ। स्वयं सामवेदकी इतनी महिमा है कि भगवान कृष्णने अपने लिए उसे ही चुना—"वेदानां सामवेदोऽस्मि"—वेदोंमें मैं सामवेद हूँ—किन्तु आज हमारी सङ्गीतपद्धति जिस षड्ज, ऋषभ, गन्धार—सा रे ग म आदि सप्त स्वरोंपर अवलम्बित है, उन सात स्वरोंका सामवेदमें कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता। जिस ॐसे सङ्गीतकी उत्पत्ति हुई है, वह ॐ वैदिक संस्कृतिमें वेदेतर संस्कृतिसे आया, यह भी मान्यता है। नाटकके परदेके लिए जब हम सांस्कृतिक शब्दका प्रयोग करते हैं तो कहते हैं 'यवनिका'। यह यवनिका उन यूनानियोंकी देन है जो यवन अर्थात् आयोनियाके निवासी थे।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृतिका वर्तमान रूप, आजके [illegible] सङ्गठन और आजके आचार-विचार तथा व्यवहार [illegible] प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक क्रिया-प्रतिक्रियाओंका फल है। वैदिककालीन आर्य और उनसे पुराकालीन [illegible] वंश और उनकी विभिन्न मान्यताएँ अनेक धार्मिक [illegible] भौतिक क्रान्तियोंके आवर्तनों और प्रत्यावर्तनोंमें घुल-मिलकर एक हो गयी हैं। सहस्राब्दियोंके अन्तर्जातीय सम्पर्क, चिन्तन

और श्रमसे जिस संस्कृतिकी उपलब्धि हमें हुई है, उसे हम केवल भारतीय विशेषणसे ही व्यक्त कर सकते हैं। उसे मात्र हिन्दू संस्कृति कहना उसकी सीमाको संकुचित करना है। और उसे वैदिक संस्कृतिके अर्थमें समानार्थक बनाना तो सर्वथा ही असङ्गत है। राष्ट्रिय दृष्टिसे जैन, वैदिक और बौद्ध सब हिन्दू हैं; क्योंकि 'आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्त' सबकी पुण्यभूमि और पितृ-भूमि समान है। सांस्कृतिक दृष्टिसे तीनों संस्कृतियाँ भिन्न हैं। तीनोंके योगदानसे निर्मित संस्कृतिको हिन्दू संस्कृति कहा जा सकता है। यह संग्राहिका शक्ति ही हिन्दू संस्कृतिकी विशेषता है। वेदोंको अप्रमाण माननेवाले और हिंसामय वैदिक यज्ञके विधानके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले तथागत बुद्धको भी हिन्दू संस्कृतिने अवतार-रूप माना है—

निन्दसि यज्ञविधेरहरहःश्रुतिजातं सदयहृदयदर्शितपशुघातम्,
केशव-धृत-बुद्धशरीर, जय जगदीश हरे। —गीतगोविन्द

जिस दर्शनने हम भारतीयोंको यह उदार 'अनेकान्त' दृष्टि दी, उसका विकास प्राग्वैदिक कालसे लेकर अथर्ववेदमें वर्णित यम-नचिकेता-संवाद तक किस रूपमें हुआ, उपनिषदोंकी अनुपम आत्मगवेषणा द्वारा प्रस्फुटित होकर उसने आधुनिक चिन्तनको किस प्रकार समृद्ध बनाया, यह अध्ययनका एक और पहलू है जिसकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है।

वैदिक वाङ्मयको वैज्ञानिक ढङ्गसे अध्ययन करनेपर कितने ही अकल्पित तत्त्व हाथ लगेंगे। जिस सत्यको परंतप कहा है और जिसकी प्राप्तिके लिए भारतीय मनीषियोंने आजीवन साधना की है, उसकी खोजके लिए उद्यत सत्यान्वेषीको सबसे पहले वैदिक साहित्यके देव-द्वारपर आकर विनत होना होगा; क्योंकि आजके दिन मूर्त ज्ञानकी पहली किरण इसी प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यसे प्रस्फुटित होती है।

मनु × मनुस्मृति ÷ १९६० = ?

सन् १९५६ में ही भारतीय संसदने जिस गणितके प्रश्नको सदाके लिए हल कर दिया उसे अब सन् १९६० में उठानेसे क्या लाभ ? हमारी पार्लमेण्टके सदस्योंने चतुराई यह की कि पहले उत्तर सामने रख लिया, फिर प्रश्नको उस उत्तरमें 'फ़िट' कर दिया !

वह इस तरह कि उन्होंने मनुको मनुस्मृतिसे गुणा (×) न करके मनु और मनुस्मृति दोनोंको सीधे-सीधे क्रास (+) पर चढ़ा दिया। संसदका फ़ार्म्यूला चमक उठा—

मनु + मनुस्मृति ÷ १९५६ = ०

अर्थात् मनु और मनुस्मृति दोनों साफ़ !

इस प्रकार, विचारनेके लिए अब विशेष कुछ रह नहीं जाता। पर सवाल जिस शक्लमें सामने आया है वह दिलचस्प है।

फ़ॉर्म्यूलेके आरम्भिक तीन अंशोंमें '१९६०' तो प्रत्यक्ष है, 'मनुस्मृति' भी सामने मौजूद है। मुश्किल है तो 'मनु' महाराजको पकड़ पाना ही। वही उस ड्रामेके हीरो भी हैं। तो, उनके ही मुखसे उनका परिचय सुनें—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥

अर्थात् "बड़ी तपस्याके फलस्वरूप उस विराट् पुरुष ब्रह्माने जिसे 'स्वयं' बनाया वही मैं हूँ 'मनु'; मुझे, इस सारे संसारके रचनेवालेको, अच्छी तरह पहचान लो!" इन्हीं मनु महाराजने १० प्रजापति बनाये, उन प्रजापतियोंने ७ मनु और बनाये, और हर प्रजापतिने अपने-अपने समयमें सृष्टिकी रचना की। ऐसे और इतने बड़े हैं यह मनु महाराज!

अब 'मनुस्मृति'को देखें-समझें। मनु महाराज ही कहते हैं—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥

अर्थात् "स्वयं ब्रह्माने यह शास्त्र मुझे पढ़ाया। मैंने आगे मरीचि आदि मुनियोंको पढ़ाया।" वही शास्त्र फिर भृगुने पढ़ा। "इस प्रकार मनुसे आदेश प्राप्त किये हुए भृगुने प्रसन्नचित्त होकर दूसरे मुनियोंसे कहा : अब आप सुनिए वह शास्त्र।" 'मनुस्मृति' बस वही शास्त्र है।

इस मनुस्मृति शास्त्रके प्रारम्भमें ही सृष्टिके निर्माणकी रोचक कथा है। समयको भी इसमें 'मन्वन्तर' नामसे गिनाया गया है। सचमुच कितनी प्रभूत कल्पना थी इन शास्त्रकारोंकी! समयकी इन्होंने दो इकाइयाँ गिनायी हैं, 'निमिष' और 'मन्वन्तर'। निमिष अर्थात् पलक झपनेभरका समय, आज-के हिसाबसे ८।४५ सेकेण्ड। मन्वन्तर अर्थात् ३० करोड़ ६७ लाख २०

हज़ार वर्ष। यह जो कलियुग चल रहा है, १२०० दिव्य वर्षोंका है, अर्थात् हमारे ४ लाख ३२ हज़ार वर्षोंके बराबर।

मनुस्मृतिमें निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, दिव्य वर्ष, चतुर्युगी आदि सबकी क्रमबद्ध गणना स्पष्ट की गयी है। गणना समाप्त होती है ब्रह्माके एक 'दिन-रात' पर, जिसमें सहज ही हमारे ८६४ करोड़ वर्ष समा जायँ। तो फिर ब्रह्माका एक वर्ष कितना बड़ा होगा! विज्ञानने 'प्रकाश वर्ष' अर्थात् 'लाइट ईअर्स'की कल्पना अब की है!

आश्चर्य यह है कि मनुस्मृतिमें कालकी कल्पनाका जहाँ इतना लम्बा-चौड़ा विस्तार है वहाँ 'देश' अर्थात् जिस देशके मानवोंके लिए मनुस्मृति बनायी गयी है उसकी कल्पना बड़ी ही संकुचित और सीमित है। बस कुरु, पांचाल, आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश! जो कुछ भी विभाजन है सब दो नदियों और दो पर्वतोंके बीचमें सीमित [illegible] नदियों तथा हिमालय और विन्ध्य पर्वतोंके [illegible]

मनुका सारा विधि-विधान मुख्य रूपसे इसी भूभागके लिए है। कहीं कुछ अगर भूमि बाक़ी है तो सब म्लेच्छ भूमि। स्पष्ट विधान है कि ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यको केवल इसी सीमामें रहना होगा—जहाँ यज्ञके लिए 'काला हरिण' मिलता है—इस सीमासे बाहर केवल शूद्र ही जा सकता है—'आजीविकाके लिए।'

बस यहीं १९६० का ब्रह्माण्ड मनुस्मृतिकी छोटी पोली गेंदको इस तरह उछाल फेंकता है कि निशान ही नहीं मिलता। आजके भारतका विस्तार और जनसंख्या मनुस्मृतिकी कल्पनामें थी कहाँ जो सभी अनुकूल विधान उसमें मिल सकें? छोटी सीमा और थोड़ी जनसंख्याके लिए उस कालमें जो विधान बनाया गया, वह अपनी परिपूर्णतामें अद्वितीय है। वर्णों-का विभाजन कर्तव्योंके विभाजनका आधार था। कर्तव्योंकी पूर्तिके लिए मनुष्योंके अहंकारकी तुष्टि की। यदि उस युगके देशको आजका विश्व मानें और वर्णोंको राष्ट्र तो क्या आज भी यह प्रश्न नहीं पूछा जा सकता कि

सिक्यूरिटी काउन्सिलमें जो राष्ट्र स्थायी पद सँभालकर द्विज बने बैठे हैं वे किस न्यायसे और राष्ट्रसंघके लिए चीन क्यों शूद्र है ? इसका यह अर्थ नहीं कि पिछले युगका अन्याय आजके युगके अन्यायके लिए दलील बनाया जाये, किन्तु जब कूटनीतिज्ञ कहते हैं कि मनुष्यका व्यवहार केवल 'न्याय' से ही नहीं 'परिस्थितिकी आवश्यकताएँ' देखकर चलता है तो हमें मनुस्मृतिके विधि-विधानोंको भी यथार्थवादी दृष्टिकोणसे देखना होगा ।

यह हमारा यथार्थवादी दृष्टिकोण ही मनुस्मृतिको १९६०में टिकने नहीं देता । उस ज़मानेमें जिन्हें शूद्र माना गया था वे प्रायः 'विजातीय' थे—देशकी उस छोटी-सी सीमाके परेके लोग जिन्हें युद्धमें बन्दी बनाया जाता था या जो परम्परागत शूद्रोंकी सन्तान थे या जिन्हें खरीद लिया जाता था । यदि जगहकी तंगी थी और वंशकी परम्परा चलानेका विधान शास्त्र-गत होनेके कारण जन्म संख्या बढ़ रही थी तो अभावग्रस्तताका प्रभाव पहले विजातीय अंशपर पड़ता था । शूद्रको अधिकार देना पड़ा कि वह बाहर जाकर अपना पेट भर ले। यह अधिकार है या अवज्ञा ? मनुस्मृतिमें कहा है—"ब्राह्मणको अधिकार मिलता है विद्यासे, क्षत्रियको शस्त्रसे, वैश्यको धनसे और शूद्रको जन्मसे ।" शूद्र जब धन नहीं रख सकता, शस्त्र नहीं ले सकता, विद्याका अधिकारी नहीं, तो उस बेचारेके पास शरीर ही तो रहता है, वह भी दूसरोंके लिए ! बस उसका जन्म ही उसका अधिकार है—"साँस लेते हैं हम, ग़नीमत है !"

मनु महाराजको मनुस्मृतिसे किस-किस बातमें गुणा करेंगे ? १९६०से भाग दे दीजिए, प्रायः सभी कुछ विलीन होता चला जायगा । मामूली-सी बात है । आपका नाम क्या है ? आपका नाम 'राजेन्द्र' है और देशके सिंहासनपर बैठे हैं तब तो ठीक, किन्तु यदि आप 'कैलाशनाथ' हैं और ब्राह्मण नहीं हैं या फ़ौजसे सम्बद्ध हैं तो मनुस्मृति इसकी इजाज़त नहीं देती । नियम है—"ब्राह्मणके नाम मंगल-सूचक हों और (विष्णुपुराणकी व्याख्याके अनुसार) 'शर्मा' लगा हुआ हो; क्षत्रियका नाम बल-सूचक हो

और 'शर्मा' लगा हुआ हो; वैश्यका नाम धन सूचक हो और 'गुप्त' लगा हुआ हो; शूद्रका नाम जुगुप्सावाला हो, घृणित हो—दास, सेवक आदि। फिर लड़कीका नाम गंगा (नदी) न हो, एणाक्षी (पशुपक्षीके अर्थवाला) या अरुन्धती (नक्षत्र) न हो। इस नियमके अनुसार यदि १९६० में चुनावके लिए नाम माँगे जायँ तो 'नाम' या 'काम' या 'धाम'के कारण वर्तमान संसद सदस्योंमेंसे प्राय: प्रत्येक ही घर बैठा रह जायगा। 'पण्डित' हुए ब्राह्मण, 'जवाहर' हुए वैश्य—दोनोंको मिलायें तो तुक न बैठे!

मनु महाराजकी बात चले तो सुमन्त पाण्डे बाटाकी एजेन्सी छोड़ बैठें, मनोहर वर्मा कौलेजकी प्रोफ़ेसरीसे इस्तीफ़ा दे दें; वीरेन्द्र गुप्त आर्मीकी कप्तानी छोड़ दें और जगत राम सरकारी गद्दी खाली कर दें।

आपका बच्चा पाठशालामें पढ़ना चाहता है। उसे भेजिए गुरुके पास और नीचे दिये मनु महाराजके चार्टके अनुसार उसकी धुजा बनाकर फ़ोटो ले लीजिए :

साज-सज्ज	ब्राह्मण	क्षत्री	वैश्य
दुपट्टा	काले मृगकी खाल या सन	रुरु मृगकी खाल या रेशम	बकरेका चमड़ा
करधनी	तीन लड़ोंवाली चिकनी मूँज	धनुषकी डोरी	ऊनकी
यज्ञोपवीत	रुईके सूतका	सनके सूतका	ऊनका
डण्डा	ढाकका	खैरका	गूलरका
डण्डेकी लम्बाई	केश तक	ललाट तक	नाक तक
भिक्षा माँगने जाये तो कहे	भवति भिक्षां देहि	भिक्षां भवति देहि	भिक्षां देहि भवति
भोजनके समय दिशा	उत्तर	दक्षिण	पश्चिम

विद्यार्थी लँगोटी पहने; जूता न पहने, छाता न ले, रोज भिक्षाके लिए निकले, गुरुके लिए समिधा (लकड़ी) इकट्ठा करे, शिखा सहित मुण्डन

कराये या जटा रखे या केवल शिखा रखे, गुरुकी अपेक्षा घटिया पहनावा रखे—अर्थात् गुरुकी पोशाक ऊपरवाली पोशाकसे भी घटिया हो सकती है (आजके प्राइमरी टीचर्सको फिर क्या मिला)।

अब आप निश्चय कर लें कि अपने 'लाड़ले'का फ़ोटो खिचवाना चाहेंगे या नहीं !

और लाड़ली ? उसके लिए उसकी माँसे पूछिए। पर, माँको मनुस्मृति पढ़नेका अवसर कहाँ ! शायद अधिकार भी नहीं। स्वयं मनुस्मृतिमें देखिए—

"स्त्रियोंका विवाह ही उनका यज्ञोपवीत है, पति-सेवा ही गुरुकुल निवास है और गृह-कार्य्य ही उनका अग्निहोत्र है !"

स्त्रियोंके लिए सृष्टिके आरम्भमें ही विशेष परिश्रम करके मनुने जो निर्माण किया उसकी सूची मनुस्मृतिमें यों है—

शय्याऽऽसनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥

अर्थात् शय्या, आसन, अलंकार, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोहभाव और दुराचरण ! मनुने ये स्त्रीके लिए बनाये ! और भी कितनी ही बातें हैं—

न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति

अर्थात् स्त्री स्वतन्त्रताकी अधिकारिणी है ही नहीं ! अथवा—

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते

अर्थात् सुरूप हो चाहे कुरूप, बस 'पुरुष' होना चाहिए !

उधर स्त्रियोंकी प्रशंसा भी क्या कम की है मनु महाराजने—

नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणाम्

अर्थात् स्त्रियोंका मुख सदा ही शुद्ध है। इतना ही नहीं, बल्कि—

ब्राह्मणः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्या च सर्वतः ।

अर्थात् ब्राह्मण चरणोंसे पूजनीय है और स्त्रियाँ समूचे शरीरसे ! और भी—

स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि

अर्थात् स्त्री रूपी रत्न तो नीच कुलका भी ले ले !

अब इस तरहके अंश १९६० में कैसे चलें ? पर मनोविश्लेषणके इस युगमें, फ्रायड और किन्सीकी खोजोंके प्रकाशमें, जोडके हताश उच्छ्वासोंकी छायामें, सिनेमा और सेक्सकी दिग्विजयी चर्चाओंके कोलाहलमें, मनुकी बात क्या सचमुच इतनी उपेक्षणीय है ? ज्यादतीकी बात यह जरूर है कि जैसे आदमी तो दूधका धोया हुआ हो ! दूसरी तरफ़, जिस मनुने लिखा—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" और "माता तो आचार्य अथवा पितासे भी सहस्रगुणा पूज्य है" उसे १९६०से भाग देकर भगाया नहीं जा सकता।

एक बात स्पष्ट है। मनुस्मृतिमें स्त्री-पुरुषके सम्बन्धोंके विषयमें जो विधि-निषेध दिये गये हैं और जो सतर्कता बरती गई है उसमें मनोवैज्ञानिकता काफ़ी है, वे सब अनुभवजन्य हैं। लिखा है : "यदि कन्या ऋतुमती हो जाय और माता-पिता विवाह न करें तो तीन वर्ष तक प्रतीक्षाके बाद कन्या स्वयं अपने योग्य पति देख ले।" यह अतिरिक्त सतर्कता सामाजिक परिस्थिति और प्रचलित नियमोंके कारण भी रही होगी, क्योंकि जिस समाजमें विवाहके लिए वर-कन्याकी आयुका अन्तर ३० और १२ या २४ और ८ का हो और जिसमें वर्ण-शुद्धतापर इतना अधिक जोर हो वहाँ मानव-प्रकृति अवरोधों और कुण्ठाओंके कारण अधिक स्वच्छन्द हो ही जाती होगी।

मनुस्मृतिका सबसे बड़ा अभिशाप है ब्राह्मण और शूद्रकी परिस्थितियोंमें आकाश-पातालके अन्तरका विधान। आज तो सारी दुनिया ही मनुस्मृतिके अर्थोंमें 'शूद्र' है तो फिर यह बात कैसे बर्दाश्त हो कि :

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।

शूद्रको दासता करनी ही चाहिए, चाहे उसे उसका मूल्य मिले या न मिले !

'द्विजोच्छिष्टं च भोजनं'

अर्थात् शूद्रका भोजन द्विज (ब्राह्मण-क्षत्री-वैश्य) की जूठन है ! या

'सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्' ।
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥

अर्थात् सारे संसारमें जो कुछ भी है, सब ब्राह्मणका है । ब्राह्मण जो भी खाता है वही उसका है; वह जो पहनता है, जो देता है वह सब अपना ही । दूसरोंको जो कुछ भी भोगके लिए प्राप्त है वह सब ब्राह्मणकी दयाके कारण ही ।

इस प्रकार ब्राह्मणको देवत्वके पदपर पहुँचाया गया है ।

यहाँ यह बात विशेष रूपसे विचारणीय है कि ब्राह्मणके लिए संयम, साधना, अभाव और त्यागके जिस मार्गको अपनानेका विधान मनुस्मृतिमें है उसका कोई ब्राह्मण यदि सच्चे अर्थोंमें पालन करे तो वह वास्तवमें देवत्वकी कोटिमें पहुँच जाय ।

वास्तवमें मनुस्मृति तो एक संहिता है । उसमें समस्त धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रोंके सिद्धान्तों तथा आचार-व्यवस्थाओंका संकलन-सार दिया गया है । यह न एक व्यक्तिकी बनायी हुई है, न एक समयमें बनी हुई । कितनी ही व्यवस्थाएँ परस्पर विरोधी हैं; कितनी ही बातें बादमें जोड़ी गयी हैं, कितनी ही पुनरावृत्ति है, कितनी जगह अप्रासंगिकता है । जहाँ कोई वर्णन किसी विषयमें अग्राह्य या अनैतिक नज़र आता है वहीं उसी विषयसे सम्बन्धित कुछ ऐसे सिद्धान्त और आचार-व्यवस्थाएँ सामने आ जाती हैं कि सम्भ्रम हो जाता है । एक जगह मनुस्मृति कहती है : '**स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ।**' तो दूसरे स्थानपर यह भी कहती है कि "सौ अश्वमेध यज्ञोंका फल एक इस बातमें है कि मनुष्य मांस न खाये" । जहाँ यह आलेख है कि "ब्राह्मण शूद्रका धन जबर्दस्ती भी छीन सकता है", वहाँ यह भी विधान है कि "गृहस्थब्राह्मण बिना दास-दासियोंको खिलाये स्वयं भोजन करने न बैठ जाये" ।

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्,

वह व्यक्ति जो केवल अपने लिए ही खाना बनाता-बनवाता है वह वास्तवमें भोजन नहीं खाता, पाप खाता है। अब भला समाजवादका कौन-सा सिद्धान्त है जो इस व्यवस्थाको मात दे सके !

मनुस्मृतिका मूल दृष्टिकोण 'धार्मिक' ही है। समाज-व्यवस्था, गण-सञ्चालन और राजकीय नियम; सामूहिक दृष्टिसे व्यवहारमें आने लायक बनानेका प्रयत्न किया गया है—एक्सपोर्ट-इम्पोर्टपर लाभांशका २०% कर हो, जुलाहा १० पल सूत लेकर ११ पलकी तोलमें वापिस दे क्योंकि माँड़ीका भार आ जाता है; चुंगीकी नजर बचाकर कोई माल ले जाये और पकड़ा जाये तो ८ गुना मूल्य भरे; राजा हर १५ वें या ५५ वें दिन व्यापारियोंकी सभा बुलाकर विचार-विनिमयके बाद वस्तुओंके मूल्य निर्धारित करे; नावका किराया निश्चित हो; भाई अपने-अपने भागमेंसे बहिनको १/४ भाग दें आदि। फिर भी जितनी नैतिक और धार्मिक व्यवस्था मनुस्मृति देती है, सब व्यक्तिको साधना, त्याग और निवृत्तिकी ओर ले जानेवाली है। यहाँ तक कि पुत्रोत्पत्ति भी धार्मिक दृष्टिसे है। नियोग भी इसी दृष्टिसे है कि कुलका धर्माचार चले और देवों-पितरोंका पूजन होता रहे। ज्येष्ठ पुत्रको पिताका सब दाय-भाग इसीलिए विशेष रूपसे पहुँचता है कि उसकी उत्पत्ति धार्मिक प्रयोजनको सफल करती है। शेष भाई-बहिन 'काम'-कारणसे उत्पन्न माने जाते हैं।

मनुस्मृतिके कर्त्ता अपने विरोधी व्यवस्थाओंके प्रति सजग थे। इसलिए उन्होंने धर्मके लिए चार बातें प्रमाण मानीं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं, स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

एक : वेद, जो समस्त धर्मके मूल हैं; दो : वेदको जाननेवालों द्वारा जो स्मृतियाँ लिखी गयी हैं, अथवा जो उनकी स्मृतिमें और शीलमें हैं; तीन :

साधु-सज्जनोंको जो आचार-व्यवहार दिखायी दे, और चार : जिससे अपनी आत्मा सन्तोष माने ।

व्यवहार और आचारमें भेद तो है ही, उसमें विवाद कहाँ तक चलाया जाये; सीधी-सीधी व्यवस्था यह है कि—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

न मांस भक्षणमें कोई दोष है, न शराब पीनेमें, न काम-सेवनमें—इन चीजोंमें तो प्राणियोंकी सहज प्रवृत्ति है ही । जीवनकी सफलता तो इस बातमें है कि मनुष्य इन चीजोंसे निवृत्ति पा ले । यहाँ मनु और मनुस्मृतिका गुणनफल इतना अक्षय है कि १९६० बार भी १९६० से भाग दिया जाये तो इसे शून्य नहीं बना पायेंगे ।

शेष बातोंमें तो १९६० की विजय और मनुस्मृतिकी पराजय संसदके ४-४ विधेयकोंमें अंकित हो गयी हैं । देश-विदेशके युवक-युवती भारतकी जिस अन्तर्राष्ट्रीय क्लबमें शामको मिलकर बैठेंगे, हँसें-बोलेंगे और जब जीवनके वातायनमें संसारकी उन्मुक्त वायु तथा क्षितिजके पारवाली तारिकाओंकी कोमल आभा आने लगेगी उस समय क्या मनुका यह विधान एक क्षणको भी आड़े आ सकेगा कि "कोई युवक ऐसी युवतीसे शादी न करे जिसका रंग गोरा-चिट्टा हो, जिसकी आँखें नीली या भूरी हों, जो बहुत बोलनेवाली हो और हाथकी खर्चीली हो या अपने पिताकी इकलौती सन्तान हो ?" काश, मनु महाराज ऐसे किसी क्लबमें एक शामके लिए आ सकते ! ● ●

वाल्मीकि : सृष्टि और दृष्टि

ब्राह्मणकुल; आंगिर गोत्र; सुन्दर नाम---रत्नाकर ! किन्तु आजीविका? डकैती । कारण ? कुसंगतिका प्रभाव । और क्या कारण ? इसकी साक्षी नारदजीसे लीजिए---

स्वच्छन्द-विहारी नारदजी, वनमें चले जा रहे थे । शायद वीणा बजा रहे हों; शायद मन-ही-मन किसीको उठानेकी, किसीको गिराने-की योजना बनाते जा रहे हों । रत्नाकरको न मालूम क्या सूझा कि आकर नारद जीको ही धर दबाया : 'रख दे तेरे पास जो कुछ भी हो !' नारद जी तो अकिंचन ब्राह्मण ! बोले, 'भाई, मेरे पास तो कुछ नहीं है ।' इतना कहकर वह विनोदमें भर कर मुसकराये ।

रत्नाकरके लिए यह नया अनुभव था। अब तक तो सब भयसे कातर होकर त्राहि त्राहि पुकारते थे। नारद जीने पूछा, 'ऐसा पाप कर्म क्यों करते हो?' रत्नाकर बोला, 'इतने प्राणियोंके कुटुम्बका भरण-पोषण करनेका और कोई साधन नहीं है। अपनोंके लिए ही यह सब करना पड़ता है।' नारद जीने समझाया, 'संसारमें अपना-पराया कुछ नहीं। अपने धर्मसे आदमीको सद्‌गति मिलती है, अपने पापसे दुर्गति, तुम्हारी डकैतीकी कमाई खाने वाले वे तुम्हारे अपने क्या इस पाप कर्म-को बँटा लेंगे? जाओ, उनसे पूछकर आओ कि वे इस पापका फल भोगनेको तैयार हैं या नहीं। मैं भागूँगा नहीं, तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा करूँगा। विश्वास न हो तो मुझे इस पेड़से कसकर बाँध जाओ।'

रत्नाकरने नारदजीको पेड़से बाँध दिया। फिर लौटकर आया तो हृदय परिवर्तन हो चुका था। उसके परिवारके व्यक्ति भी तो ब्राह्मण ही थे: कैसे कहते कि वे दूसरोंके पाप-पुण्यको बँटा सकते हैं? रत्नाकर-ने दुष्कर्म छोड़े, और साधु-जीवन बिताने लगे। ऐसी दुर्द्धर तपस्या की इतने वर्षो तक कि चींटियोंने शरीरके चारों ओर वल्मीक (मिट्टी का घरौंदा) बना लिया। रत्नाकर 'वाल्मीकि' बन गये। यह है व्यक्तिके चरम विकासकी सम्भावनाओंकी प्रतीक-कथा। पुराणोंकी दृष्टि!

* * *

गंगाके दक्षिणी तटका एक वन। वहाँसे बहती हुई तमसा नदी। तमसाके आसपास वाल्मीकिका आश्रम।

दोपहरका समय है। महर्षि वाल्मीकि स्नान के लिए तमसाके तट-पर धीरे-धीरे जा रहे हैं। क्रौंच पक्षियोंका एक जोड़ा वृक्षकी शाखापर क्रीड़ा-रत है। अचानक ही व्याधका सरीता तीर नर-पक्षीके हृदयको बेध-कर पार हो जाता है। पक्षी छटपटा कर प्राण छोड़ देता है।

पक्षीके हृदयमें तो लगा ही, तीर बेध गया महर्षिके हृदयको।

उद्वेलित होकर उनका हृदय जिन शब्दोंमें, जिस वाणीमें, जिस छन्दमें फूटा, वही लोकवाणीका पहला छन्द, पहली काव्य-सर्जना है। भवभूतिके अनुसार वह श्लोक था :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्, अगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंच मिथुनात् एकम्,अवधीः काममोहितम् ॥

रे निषाद ! तूने काम-मोहित क्रौंच मिथुनमेंसे एक को मार डाला ? (मेरा शाप है कि) तू भी चिर काल तक वेदनासे तड़पे, तुझे चैन न मिले !

पक्षियों के जगत् में क्रौंच-मिथुनका रति-भाव ही उनके सहज जीवनका सुखमें डूबा हुआ (उन्मद) क्षण है। ठीक उसी समय व्याधका वाण प्राणों-का अन्त कर गया।

कवि का 'शोक' ही 'श्लोक' बन गया :

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। —कालिदास

यही प्रतीक वाल्मीकिकी रामायणमें शोकाश्रुतरल घटनाओंमें गुँथा हुआ है : अयोध्यापुरी सुखके सपनोंमें झूल रही है। राज्याभिषेकका क्षण समुपस्थित है। तभी कैकेयीका पुराना माँगा वरदान अभिशापका तीर बनकर छूटता है और मनोरम स्वप्न टूक-टूक हो जाते हैं। अयोध्या छटपटाती रह जाती है !

एक दिन विपत्तियोंके पहाड़ भेदकर, आपदाओंके अपार सागर तैरकर, लम्बे युद्धके प्रलयंकरी आघात झेलकर, राम और सीता परस्पर मिलते हैं। रोमांच की अनुभूति प्राणों में पैठ भी नहीं पाती कि रामायणका भद्र—भवभूतिने ठीक ही उसे 'दुर्मुख' नाम दिया है—लोकापवादका विष बुझा तीर छोड़ता है : सीता फिर मर्मान्तिक वेदनासे निष्प्राण हो जाती हैं।

दुर्भाग्यके अनवरत आघातोंने जीवनको बार-बार बेधा है ; स्वयं राम ही जीवन-लीलापर विचार करते हैं, तो उनका हृदय वेदनासे भर जाता है :—

राज्यप्रणाशः, स्वजनैर्वियोगः, पितुर्विनाशो, जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण ! शोकवेगम् आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ।।

—वाल्मीकि

*　　　　*　　　　*

वाल्मीकिका आदि काव्य किस प्रयोजनको लेकर प्रस्फुटित हुआ ? मूल प्रेरणा क्या है ? वाल्मीकिको कौतूहल हुआ कि संसारमें जिन गुणों-की हम प्रशंसा करते हैं, जिन गुणोंको हम आदर्श रूपमें मानते हैं, वे क्या कहीं एक ही व्यक्तिमें उपलब्ध हैं ? उन्होंने मुनिपुंगव नारदसे पूछा :

को नु अस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः ।।

और भी पूछा : कौन है चरित्रवान, कौन है प्राणीमात्रका हितैषी, विद्वान् समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, जितक्रोधी, अद्वेषी—पर जो यदि युद्धमें रोषित हो जाय तो देवता भी उसके भयसे काँपने लगें ?

नारद ने उत्तर दिया : है ऐसा व्यक्ति—'**इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो-नाम जनैः श्रुतः**' और फिर नारद जीने रामचन्द्रके अन्य अनेक गुणोंकी लम्बी सूची गिना दी ।

रामायणमें वाल्मीकिने उन्हीं रामका चरित्रवर्णन किया है । अर्थात् रामायण 'चरित्र काव्य' है । वाल्मीकिने उक्त गुणोंको राममें आरोपित नहीं किया, प्रत्युत् उन्होंने रामके जीवनकी सब घटनाओंको देखा, उनके सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंके प्रति उनका दृष्टिकोण समझा, उनके जीवनकी प्रेरणाओंको परखा और इस तरह वाल्मीकिने

विभिन्न परिस्थितियोंमें रामके आचार-विचारको रखकर व्यावहारिक दृष्टिकोणसे जाँचा ।

वाल्मीकिकी रामायणमें यही रामचन्द्र उत्कृष्ट मानवके रूपमें आये हैं, लोकोत्तर भगवानके रूपमें नहीं ।

* * *

संसारके समूचे क्लासिकल साहित्यमें आदर्शका इतना स्पष्ट बोध, आदर्शकी प्रतिष्ठाका इतना सायास प्रयत्न, आदर्शकी उपलब्धिका इतना जीवन-संगत व्यावहारिक रूप शायद कहीं भी उपलब्ध नहीं जितना वाल्मीकिके पात्रोंमें प्राप्त है ।

वाल्मीकीय रामायणके सभी प्रमुख पात्र राजघरानोंके हैं या सुप्रतिष्ठित वंशों और कुलोंके; किन्तु उनके कार्य-कलाप और उनकी जीवन-चर्या जिन नैतिक सिद्धान्तोंसे परिचालित हैं या जिन आदर्शोंके प्रति वे उन्मुख हैं वे साधारण गृहस्थ और समाजके सार्वजनिक जीवनके लिए भी परिकल्पित हैं ।

प्रत्येक पात्र, प्रत्येक व्यक्ति अपनी रूप-रेखाओं और वृत्तियों-प्रवृत्तियों-में अलग-अलग है; किन्तु जब हम प्रत्येकको उसके अपने परिवेशमें रख-कर कथाके सन्दर्भमें उसके आचरण और प्रयत्नोंको आँकते हैं तो वे ही व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोंके प्रतीक बन जाते हैं ।

उनके चरित्रका अध्ययन हमें बताता है जीवनके साध्य क्या हैं, साधनाका मार्ग क्या है, व्यवहारका मानदण्ड क्या है, उचित क्या है, अनुचित क्या है और मन, वचन तथा कर्मकी कौन प्रेरणाएँ, कौन दिशाएँ मनुष्यके उत्थानमें सहायक हैं, कौन बाधक ।

इस तरह सारा काव्य एक ओर जीवनकी यथार्थ परिस्थितियोंका बोध कराता है और दूसरी ओर नैतिक प्रेरणाओंका ।

इन मानवीय पात्रोंके प्रयत्न भी मानवीय हैं : आदर्शोन्मुखी होकर भी

वे स्वाभाविक मानवीय असंगतियोंमें आ भटकते हैं। यदा-कदा स्खलन न हो, तो वे अत्यधिक अतिमानवीय हो जायें।

*　　　　　*　　　　　*

वाल्मीकिका प्रयत्न है कि उनकी सृष्टिके पात्र अपने-अपने पारिवारिक सन्दर्भमें सम्बन्धविशेषके आदर्श प्रतीक बनें। इसीलिए भाई रूपमें तो भाई आदर्श है, पर सम्भवतया पति रूपमें आदर्श नहीं। राम राजाके रूप-में आदर्श हैं, मर्यादा पुरुषोत्तमके रूपमें पर्याप्त सफल हैं, पर पति रूपमें सीताके साथ पूरा न्याय कहाँ कर पाये? विभीषण क्या लांछित नहीं? रामायणके पात्रोंने जहाँ राजनीतिको ही एकान्त रूपसे निभाया या परि-स्थिति विशेषको ही सुलझाया, वहीं आदर्शकी दृष्टिसे वे च्युत हुए। आलोचकको आदर्शोंका समष्टिगत रूप भी देखना होगा।

सारी रामायणमें जो विपत्ति, दुर्भाग्य, प्रवंचना और यातनाका सागर उमड़कर प्रमुख पात्रोंको प्रताड़ित कर रहा है, उस दुर्भाग्यका उत्स क्या है? विलास, राजाका विलास!

राजा दशरथके साढ़े तीन सौ रानियाँ थीं और दो पट्टरानियाँ—कौशल्या और सुमित्रा। वह बूढ़े हो गये थे, पर काबुल देशकी सुन्दर, स्वस्थ, अपूर्व सौष्ठवमयी कैकेयीको देखकर राजा विमुग्ध हो गये। कैकेयीके पिता अपनी बेटीका विवाह करनेको राजी हो गये, पर शर्त रखी कि कैकेयीका पुत्र ही राज्यका अधिकारी होगा। दशरथ इस शर्तको मान गये। यहीं अनीतिका बीज बोया गया।

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।
कामी कमलपत्राक्षीम् उवाच वनितामिदम्॥

दशरथ कामी थे, बूढ़े थे; भार्या तरुणी थी। मोहमुग्ध दशरथकी इस मनोदशा और स्थितिको वाल्मीकिने निःसंकोच व्यक्त किया है। राम अपने पिताकी अवस्था देखकर जिस परिणामपर पहुँचते हैं, उसे आज

४–५ हज़ार वर्ष बाद नयी उपलब्धि बताकर मनोविज्ञान घोषित कर रहा है:—

> इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम् ।
> काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ।।

राजाका यह व्यसन और यह मतिभ्रम देखकर मैं इस मन्तव्यपर पहुँचा हूँ कि धर्म, अर्थ और काममें, काम हीका प्रभाव सर्वोपरि है । वही बड़ा है ।

* * *

आजका रामायण-प्रेमी, कैकेयी और मन्थराको शठताका प्रतीक मानकर सारी विपत्तिका उत्तरदायित्व उन दोनोंके सिर मढ़ता है । वाल्मीकिने इन पात्रोंका चित्रण बड़ी सहानुभूतिसे किया है ।

वास्तवमें कैकेयी बड़ी सरल प्रकृतिकी है । विश्वास और स्नेह उसके स्वभावमें है । जब रामके राज्यारोहणकी तैयारीका समाचार कैकेयीको सुनाया जाता है तो वह बहुत प्रसन्न होती है । मन्थरा जब कैकेयीको याद दिलाती है कि राज्य तो भरतको मिलना चाहिए, भरत तेरा पुत्र है, तो कैकेयी निश्छल भावसे कहती है कि हमारी दृष्टिमें तो जैसे भरत, वैसे राम:—

> यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।

इतना ही नहीं, रामके राज्यारोहणके निर्णयका समाचार जानकर प्रसन्न होकर कैकेयी मन्थराके गलेमें हार डाल देती है !

पर मन्थराको चैन नहीं । वह विक्षुब्ध है कि दशरथ रामको राज्य क्यों दे रहे हैं ? कैकेयीके पिताने मन्थराको अयोध्या इसलिए साथ भेजा है कि वह कैकेयीके हितका ध्यान रखे । तीसरी शादीकी सन्तानको राज्य न मिलने पाये, इसके लिए अयोध्यामें षड्यन्त्र हो सकता है, इस आशंकाके कारण ही उन्होंने अत्यन्त व्यवहार-कुशल, दूरदर्शी, सेवापरायण, हितकामी,

अनुभवी मन्थराको कैकेयीके साथ भेजा था। मन्थरा अब यदि चुप रहती है तो कर्तव्य-च्युत होती है। यदि वह अल्हड़ कैकेयीको वशमें करके अपनी बात न मनवा सके तो मन्थरा ही क्या?

सो अन्तमें कैकेयी ज़िद करके बैठ ही गयी कि राज्य भरतको मिले। राम प्रजामें प्रिय थे, गद्दीपर बैठनेका अधिकार भी नैतिक और धार्मिक रूपसे रामका ही था, इसलिए मन्थराने युक्ति लड़ायी कि इतना ही नहीं कि भरत गद्दीपर बैठें, रामको १४ वर्षका वनवास भी हो।

मन्थरा जानती थी कि दशरथका व्यवहार कुटिलतापूर्ण है—उन्हें अपनी प्रतिज्ञा निभानेमें संकट दिखायी देता है, इसलिए वे रामको 'अनीतिपूर्वक' राज्य देना चाहते हैं। निश्चय ही दशरथका षड्यन्त्र था। इसीसे—

१. भरतको दशरथने नानाके यहाँ भेज दिया।

२. जब भरत नहीं थे, तो मन्त्रियों, गुरुओं और पुरोहितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने घोषणा की कि जीवनका कोई भरोसा नहीं, इसलिए वे कल ही रामचन्द्रका राज्याभिषेक चाहते हैं। राम प्रिय थे ही। सबने प्रसन्न होकर सम्मति दे दी।

३. राज्याभिषेकके लिए सब राजा इकट्ठे थे। जल्दीके कारण निमन्त्रण न जा सका केवल दो को—कैकेयीके पिताको और जनकको। जनकको न बुलानेका रहस्य स्पष्ट है कि केकयराज धोखेमें आ जायें।

इस सब षड्यन्त्रका प्रमाण क्या? दशरथ रामसे कहते हैं:—

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम॥

जबतक भरत इस नगरसे बिछुड़े हुए हैं, यहाँसे गये हुए हैं, तबतकके बीच तुम्हारा राज्याभिषेक हो जाना उचित है, यही मेरा मत है।

मन्थराने इसी षड्यन्त्रको नहीं चलने दिया। कैकेयीने यही सब जानकर ही शायद ज़िद पकड़ ली।

दशरथकी स्थितिमें, दशरथके स्वभावको देखते हुए, यह राजनीति और कूटनीति स्वाभाविक लगती है ।

प्रश्न था : इस सब विपत्तिके लिए उत्तरदायी कौन ? स्पष्ट है, दशरथ । कारण ? विलास, कामवासना ।

*　　　*　　　*

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि राम क्यों एक पत्नी-व्रती थे । मर्यादाका मूल वह पा चुके थे । तभी तो वह 'मर्यादा पुरुषोत्तम' बन पाये ।

*　　　*　　　*

सीता थी तो आखिर नारी ही, कौतुकसे आकृष्ट होने वाली ! वह सोनेके हिरणका लोभ संवरण न कर सकी । किन्तु सीता नारी थी अत्यन्त पतिनिष्ठा : इसलिए रामचन्द्रकी आर्त्त पुकारकी नक़ल करने वालेके छलमें भी आगई ।

सीताने लक्ष्मणपर लांछन लगाया कि उनका प्रयत्न सीताके शरीरपर अधिकार जमा लेनेका है इसी लिए वह उस आर्त्तपुकारको अनसुनी कर रहे हैं और रामचन्द्रको बचाने नहीं जा रहे हैं । यह सुनकर लक्ष्मणके हृदयपर क्या बीती होगी ?

लक्ष्मण, जो सीताके चरणोंकी ओर ही सदा ध्यानरत रहे, जो सीताके न केयूर देख पाये थे, न कुण्डल····

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

*　　　*　　　*

राम : सीतासे—

रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत् ॥

रावणने सीतापर खराब नज़र डाली यह तो ठीक, किन्तु रामने क्यों कहा कि तू रावणकी गोदमें बैठनेके कारण परिभ्रष्ट हो गयी ?

सीता : रामसे—

यद्यहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो,
कामकारो न मे तत्र, दैवं तत्रापराधति।

स्वामी, मैं जो स्पर्शगात्री हो गयी, मेरा शरीर जो स्पर्शित हो गया, सो इसलिए कि मैं विवश थी; कामवासना तो थी ही नहीं; जो है सब भाग्यका अपराध !

सीताने विकल होकर रामसे कहा था—

पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा।

आगे और भी सीताने उलाहना दिया—

"तुम तो जानते हो जो यथार्थ बात है। तुम तो वृत्तज्ञ हो; फिर क्यों दूसरोंके बहकावेमें आ गये ? मामूली आदमी भी अपनी स्त्रीको अपवादसे बचाता है, उसके सत्कारका ध्यान रखता है, तुम तो नरशार्दूल हो, मनुष्योंमें सिंह !"

परिणाम कुछ नहीं हुआ। सीताको अग्निमें प्रवेश करना ही पड़ा !

सीताका पातिव्रत्य अखण्ड था, अखण्ड रहा।

* * *

आदर्शोंके शिखरपर हैं विराजमान भरत ! शुद्ध नैतिक दृष्टिसे और चरित्रकी महत्ताकी दृष्टिसे उनसे ऊँचा कौन है ? रामने सीताके लिए युद्ध किया; इतना बड़ा युद्धकाण्ड वाल्मीकिको लिखना पड़ा। उसे यदि छोड़ दें और फिर वाल्मीकि नारदसे पूछें वही प्रश्न जो रामायणके प्रारम्भमें पूछा गया है और यदि नारद रामका ही उल्लेख करें, भरतका नहीं, तो शायद यही कहा जायेगा कि पक्षपात बड़ोंको भी होता है। काश, भरत अपनी माँकी ममता और उसका दृष्टिकोण भी समझकर उसे क्षमा कर सकते !

वाल्मीकिकी सृष्टिका समाज मानो अडिग पर्वतपर उगा हुआ महान वृक्ष है जिसकी जड़ें नीचे तक गयी हुई हैं। आँधियाँ आती हैं, वर्षा होती

है, ओले पड़ते हैं। वृक्ष हहर-हहर जाता है, धराशायी होनेको होता है, पर टूटता नहीं, गिरता नहीं। मानो विपत्तियाँ ऊपर ही ऊपरसे गुज़र जाती हैं। वह विचलित नहीं होता—रस भरा खड़ा झूमता रहता है।

*　　　*　　　*

वाल्मीकिकी सृष्टिमें वर्णाश्रम धर्मने समाजको स्थिति दे रखी है। प्रत्येक वर्णका अपना-अपना कर्त्तव्य ही उसका धर्म है। वेद और यज्ञ आर्योंके दैनिक जीवनके भाग हैं। ऋषियोंके आश्रम संस्कृति और शिक्षाके प्रमुख केन्द्र हैं। नीति-निर्धारण वहाँसे ही होता है—राजा गुरुओंके आदेश-उपदेशके आधीन हैं। रामके सम्बन्धमें कहा गया है—**ब्राह्मणानाम् उपासकः।** क्षत्रिय अस्त्र चलाता है या धनुष धारण करता है तो केवल इसलिए कि कहीं दमन न हो, अत्याचार और अनाचार न हो। शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करता है; यज्ञमें उपस्थित है, किन्तु स्वयं यज्ञ नहीं करता न करवाता है।

राजाओंके महल, वैश्योंके आगार, किसानोंके ग्राम, ग्वालोंके घोष—प्रत्येक समाज अपने सहधर्मियों और अपने सहकर्मियोंके साथ दैनिक कर्तव्य और पारस्परिक सुख-दुखके सूत्रमें बँधा है।

*　　　*　　　*

ये जो व्यक्ति हैं नीले-से रंगवाले, नील अधोवस्त्र पहने, शरीर पर राख मले, लोहेके गहने पहने—समाजसे दूर, परित्यक्त—ये हैं चाण्डाल।

*　　　*　　　*

प्रजा, जन-साधारण और वाल्मीकिकी समाज राजनीतिके प्रति जागरूक है। प्रजाओंने पहले विद्रोह किया है, आज भी कर सकती है। उन्हें सन्तुष्ट रखना राजाका कर्तव्य है—'लोकवर्द्धन' और 'लोकरंजन' बहुत महत्वपूर्ण शब्द हैं—समूची राजनीतिके प्राण, राजसिंहासनके आधार।

प्रजापर आकस्मिक विपत्ति आये तो इसका सर्वमान्य कारण है राजाका दुष्कर्म !

*　　　　*　　　　*

वाल्मीकिकी सृष्टिमें जन-साधारणका जीवन अपनी विविधतामें, विचित्रतामें और एकरूपतामें भी प्रस्फुटित हुआ है। दैनिक जीवनमें कितने उत्सव, कितने पर्व और कितने आयोजन हैं जो इन्हें व्यस्त और प्रमुदित रखते हैं ! प्रतिदिन प्रत्येक गृहस्थका बहुत-सा समय आह्निक कर्तव्योंके लिए निश्चित है !

अयोध्याके निवासियोंका बड़ा सुन्दर सौम्य चित्र वाल्मीकिने दिया है। वे सब नीतिपरायण, शास्त्रज्ञ, सत्यवादी, सन्तोषी, संयमी, निर्लोभी, दानशील, सेवाभावी और धर्मभीरु हैं। धर्म ही जीवनकी धुरी है ! आचार-व्यवहारके नियम भी निश्चित हैं:—

बड़े आगे चलें, छोटे पीछे। छोटे-बड़े यथास्थान बैठें—किसीकी अवज्ञा, किसीका अनादर न होने पाये। छोटे विनय-नत हों तो स्थान और अवसरके अनुसार या तो प्रणाम करें या प्रणिपात या प्रांजलि या अंजलि-पुट या प्रदक्षिणा। बड़े छोटोंको आशीष दें, आलिंगन करें या मस्तक सूँघें। समवयस्क आलिंगन करें, हस्त-पीड़न करें—('हैंडशेक'का ही एक प्रकार !)

*　　　　*　　　　*

वाल्मीकिकी सृष्टिमें अन्तरंग और बहिरंग सौन्दर्यकी ऐसी मनोरम अनुपम छवियाँ हैं कि रामायणपाठी सारी वेदनाएँ भूलकर इन छवियोंमें रम जाता है। प्रकृति स्वयं बोलती है ! हम श्लोकके स्वर नहीं पढ़ते—वृक्षोंका मर्मर सुनते हैं, सरिताका उच्छल वेग हमारे ही अन्दर बहता पुलकित होता हुआ चला जाता है; हमारे ही मनमें शरदकी जुन्हाई खिलती है; हमारे ही प्राणोंके तट पर धवल काश उगता झूमता है; टहनियोंके साथ हम ही झूलते हैं, फूलोंके साथ हम ही खिलते हैं।

जैसे जीव और जगत मोदमयी वाणीके माध्यमसे एकाकार हो गये हैं। कविको ध्यान ही नहीं कि रात रात है और नारी नारी! उसकी कल्पनामें तो दोनों एक हैं—

रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा, तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति, नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी॥

भ्रम हो जाता है कि छिटकी हुई चाँदनी ओढ़े यह जो है सो रात्रि है, या श्वेत साड़ीमें संवृत नारी!

काव्य, शृंगार, माधुर्य, जीवन, जीवनका सहज स्वस्थ आनन्द सब मुखर हो उठे हैं वाल्मीकिकी वाणीमें—वाल्मीकि जो महर्षि हैं, जो बिना झिझक सुन्दर बात कह सकते हैं। क्या चित्र है यह!

दर्शयन्ति शरन्नद्यः, पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसङ्गमसव्रीडा जघनानीव योषितः॥

शरद् ऋतु है; वर्षा बीत गयी, नदियोंकी बाढ़ उतर गयी—नदियाँ विश्रान्त स्थितिमें हैं, मन्दगतिसे बह रही हैं, तटवर्ती श्वेत धुला रेत दिखाई दे रहा है: 'नदियाँ हैं कि मोहिनी स्त्रियाँ जो नवसंगमके अवसरपर सलज भावसे निरावृत जंघाएँ दिखा रही हैं....'

वियोगसे दुखी राम जब सीतासे मिलनकी कल्पना करते हैं तो प्रणय-पुलकित चित्र सजीव हो उठता है—कोई भी कलाकार उसे चित्रपटपर आँकनेके लिए आतुर हो उठेगा:

कदा सुचारुदन्तोष्ठं तस्याः पद्ममिवाननम्।
ईषदुन्नाम्य पास्यामि रसायनमिवातुरः॥
तौ तस्याः संहितौ पीनौ स्तनौ तालफलोपमौ।
कदा नु खलु सोत्कम्पौ हसन्त्या मा भजिष्यतः॥

*   *   *

वाल्मीकिकी दृष्टिमें सुन्दर सफल गृहस्थ-जीवन ही विशेष आदर्श है। उस जीवनमें धर्म, अर्थ और कामका स्वस्थ सन्तुलन है। इस सन्तुलनका माध्यम प्यारी, सहचारिणी, अनुवर्ती भार्या है, दूधपूतसे फली-फूली :

धर्मार्थकामा खलु जीवलोके, समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा ॥

भक्तिके दो रूप

भारतीय प्रतिभा भी किन-किन रूपों और रंगोंमें व्यक्त हुई है ! साहित्यके क्षेत्रमें जब हमारे कवि-कलाकारोंने एक-दो नहीं, नौ रसोंकी सृष्टि कर डाली तो मानव-हृदय विस्मयसे विमुग्ध हो गया। पर क्या आज हम यह सोचते हैं कि ये नौ रस साहित्यके विकासमें बहुत बादकी वस्तु हैं जिन्हें भरत मुनिने मनुष्यकी स्थायी प्रवृत्तियोंको लक्ष्य करके 'मनोवैज्ञानिक' आधारपर आयोजित किया है ? प्राचीन साहित्यमें रसकी कल्पना इससे कहीं ऊँची थी। उस समय रस अविभाज्य था। उसकी उपलब्धि मनसे ही नहीं, हृदयसे और आत्मासे मानी जाती थी। उस समय 'रस' ही 'आनन्द' था। "रसो वै सः"—'वह' रस ही है ! कौन 'वह' ? ईश्वर,

आत्मा, सत्य, परम-तत्त्व, ऊँचे-से-ऊँचा 'वह सब कुछ' जो मनुष्यकी कल्पनामें आ सकता था। संक्षेपमें यह, कि उस समग्र रसका आधार आध्यात्मिक था।

'अध्यात्म' और 'आध्यात्मिकता' ऐसे शब्द हैं जो हमारे आजके इन्द्रियानुगतिक जीवनमें बड़े ऊपरी, अलग-अलग और कानोंको ठस मालूम पड़ते हैं। इन्द्रियोंकी और इन्द्रिय-जन्य सुखकी बात हम समझते हैं। लूकी झुलसके बाद, रैफ्रीजरेटरके पानीमें बने गुलाबके शर्बतका बिल्लौरी ग्लास जब हमारे सूखे ओठोंको स्पर्श करता है तो इस ईषत्आरक्त शीत-मधुर-सौरभपर हमारे तन-मन तृप्ति और सुखसे पुलक उठते हैं। हम उस संगीतसे भी परिचित हैं जो अपनी लय-तानके जादूसे हमारे हृदयको गुदगुदाता है और हमें झुमा-झुमा देता है, चाहे इस जादूका स्रोत सैल्यू-लाईडकी वह नाखूनी पट्टी ही हो जिसका जाना-माना काम यही है कि सहस्रों खण्डचित्रों और असंख्य ध्वनि-परमाणुओंको विद्युद्वेगसे घुमाकर वह हमें धोकेमें डाल दे। आलोक और छायाकी मायाविनी मूर्तियोंपर हमने समवेदनाके कितने आँसू बहाये हैं और सुखैक्यके कितने पुलकपुञ्ज अर्पित किये हैं!

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-नादके ये उपर्युक्त सुख इन्द्रियों और मनकी अनुभूतिके सुख हैं। यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो पायेंगे कि एक दूसरे प्रकारके भी सुख हैं जिनके अनुभूति-स्रोतका विश्लेषण हमें इन्द्रियोंके स्तरसे ऊपर ले जाता है। गान्धीजीका व्याख्यान सुनकर जो सहस्रों व्यक्ति देश-सेवाकी भावनासे प्रेरित हो दनदनाती गोलियोंके सामने सीना तानकर खड़े हो गये; और जो गान्धी स्वयं गोलीके हृदय-वेधी विषको 'हे राम!' के [illegible] पी गया; जो ईसा दो लुटेरोंके बीच, क्रूसपर [illegible] प्राणोत्सर्ग कर गया—'हे [illegible] ये नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं'; [illegible] वैभव-विलास छोड़कर बीहड़ वनोंमें क्षुधा-

जर्जरित, ठिठुरते-तपते साधना साधते फिरे;—इन सबको जिस आनन्दकी उपलब्धि हुई वह क्या किसी इन्द्रिय-विशेषका विषय है ? दूसरोंको सुख पहुँचानेसे, दूसरोंके दुःखोंका प्रतिकार करनेसे, पतितसे पतितको भी अपरिमित करुणा देनेसे स्वयंको जो आनन्द होता है उस आनन्दकी जाति और उसकी अभिधा बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। यह सुख हमें इसलिए प्राप्त होता है कि हम अपनी आत्माके अनुभूतिमय प्रक्षेप और आरोप द्वारा दूसरोंके सुख-दुःखको आत्मसात् करते हैं, उनके साथ तादात्म्य प्राप्तकर सह-अनुभूति करते हैं। यह अनुभूति जब हृदय, मन और आत्माके स्तरपर होती है और उससे सुख प्राप्त होता है तो वह 'आध्यात्मिक सुख' कहलाता है। उपर्युक्त दृष्टान्तोंमें अध्यात्मका क्रियात्मक रूप सामने आया है।

साहित्य अपनी सीमाओंके भीतर अध्यात्मके जिस रूपको विकसित करता है वह अध्यात्मका भाव पक्ष है। इस भावात्मक रूपकी उपलब्धिके लिए व्यक्तिको अन्तर्मुखी होना पड़ता है। और जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृतिके अनुरूप या तो श्रद्धाके माध्यमसे आत्माको पाता है या विवेकके। इस तरह अध्यात्मके दो रूप हो जाते हैं—एक भक्तिका और दूसरा ज्ञानका। श्रद्धा-भक्ति मानवके विकास-मार्गकी पहिली मंजिल हैं, ज्ञान दूसरी और विवेकपूर्ण आचरण तीसरी मंज़िल है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरणके समन्वयका ही नाम सर्व-अर्थ-सिद्धि है, और यही मोक्ष है।

हमारे यहाँके साहित्यमें अध्यात्मका भक्तिमूलक भावपक्ष आदिकालसे लेकर अबतक जिन प्रमुख रूपोंमें व्यक्त हुआ है, वे हैं—ऋचाएँ, पाठ, स्तोम, स्तोत्र, स्तवन, स्तुति, श्रुति, पद, भजन, कीर्तन आदि। हिन्दीमें अब तक सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदि महान भक्त कवियोंके जो मधुर पद प्रकाशित हुए हैं उनमें भक्तिका बड़ा मोहक रूप चित्रित किया गया है। इन भक्तोंने अपने आपको भगवानके प्रति सभी रूपोंमें अर्पित किया है—दासरूपमें, सखारूपमें, सखीरूपमें, वधूरूपमें—आदि।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'अध्यात्म-पदावली'में प्राध्यापक श्री राजकुमार जैन साहित्याचार्यने कुछ ऐसे पदोंका संकलन किया है और उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है जिनमें भक्तिका एक दूसरा रूप उभरा है—वह रूप जिसमें भक्तने भगवानके प्रति आत्म-निवेदन विनीत भावसे किया तो है, पर उसने जीवनकी उपलब्धि और लक्ष्य जन्म-जन्मान्तरको चरण-सेवा न मानकर जन्म-मृत्युके बन्धनोंसे मुक्ति माना है। भक्त स्वावलम्बी होना चाहता है। भक्तिके इस रूपका तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक है। अबतककी परिचित भक्ति-भावनाका रूप जो अन्य कवियोंमें मिलता है, वह इस प्रकार है—

मुकुन्दमालाका एक श्लोक है :—

नास्था धर्मे न वसु-निचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

हे भगवन्! मेरी न तो धर्ममें आस्था है, न धन-संग्रहमें और न काम-भोगमें। यह सब तो मेरे पूर्व कर्मोंके अनुसार जिस तरह होने हों, हों। मेरी तो एक बड़ी मनचाही प्रार्थना यही है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके युगल चरण-कमलोंमें मेरी अटूट-अचल भक्ति बनी रहे।

हिन्दी-काव्यमें भक्तिकी यही परम्परा मुख्य रूपसे प्रकट हुई है—तुलसीदासजी कहते हैं :—

यह विनती रघुवीर गुसाईं। × × ×
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

सूरदासजीकी भक्तिका लक्ष्य है—

जैसे राखहु वैसे ही रहौं। × × ×
कमल-नयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयो रहौं।
सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहौं॥

जनम-जनमकी दासी मीराकी भक्ति-गाथा और उसकी प्रेम-व्यथा तो जन-जनके मनमें पैठ गई है—

'आली रे मेरे नैणां बाण पड़ी। × × ×
कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥'

नरसीका एक भजन है :—

हरिको जन तो मुक्ति न माँगे, माँगे जनम जनम अवतार रे,
नित सेवा नित कीर्तन उच्छ्व, निरखे नन्दकुमार रे।

अब 'अध्यात्म-पदावली' में संकलित भक्तिरसके कुछ पदोंकी प्रेरणाका तत्त्व परखिए—

कवि दौलतरामका पद है—

सुधि लीजो जी म्हारी, मोहि भव दुख दुखिया जान के॥
जो विधि अरी करी हमरी गति, सो तुम जानत सारी।
याद किये दुख होय हिये ज्यों, लागत कोटि कटारी॥
यदपि विरागि तदपि तुम शिवमग, सहज प्रगट करतारी।
ज्यों रवि-किरन सहज मगदर्शक, यह निमित्त अनिवारी॥

इस पदकी पृष्ठभूमि नितान्त दार्शनिक है। कवि भगवान्से प्रार्थी है कि वह उसकी सुधि लें क्यों कि कवि दुःखी है। उसका दुःख यह है कि उसका बार-बार जन्म-मरण होता है और उसे भवके दुःख उठाने पड़ते हैं। अरि विधि (कर्म-शत्रु) ने उसकी जो दुर्गति की है, उसे भगवान

जानते ही हैं, क्योंकि वह ज्ञान-रूप हैं। कर्म-जन्य आवागमनका दुःख इतना गहरा है कि उसकी याद करनेसे कलेजेमें करोड़ों कटारियोंके चुभनकी वेदना होती है। भक्त कवि प्रार्थना तो करता है, पर जानता है कि जिन प्रभुसे वह प्रार्थना कर रहा है वह वीतराग हैं, स्वयं मुक्त हैं। वह प्रभु संसारके मायाजालका नियन्त्रण नहीं करता है कि पहले तो किसीको दुःखमें डाले और फिर उसे दुःखसे उबारता फिरे। इसीलिए अपनी प्रार्थनाका हेतु कवि यों निवेदन करता है कि भगवन्, यद्यपि आप स्वयं वीतराग हैं, फिर भी आपके भव्य व्यक्तित्वका मनन-चिन्तन ऐसा है कि वह स्वयं ही मोक्षके मार्गको उद्भासित कर देता है। सूर्यकी किरन जब प्रकट होती है तो रास्ता अपने आप नजर आने लगता है। सूर्य-किरन मार्गदर्शन कराती नहीं है; हाँ; उसका अनिवार्य निमित्त-कारण अवश्य है।

इसी भावको उन्होंने अपने एक दूसरे पद्यमें स्पष्ट किया है—

हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै।

*   *   *

कर्म कर्मफल माँहि न राचै, ज्ञान सुधारस पीजै।
मुझ कारज के तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै॥

जिनेन्द्र भगवान! मेरी ऐसी सुबुद्धि हो कि मैं कर्म और कर्मफलमें अपनी राग-द्वेष बुद्धि न रखूँ। मेरी यह अर्ज आप सुन लें, इसलिए कि आप मेरे कारज (कार्य-उद्देश्य) के कारण रूप हैं। अर्थात् आप कर्त्ताके रूपमें मुझे इच्छित फलकी प्राप्ति नहीं करवाते; हाँ, आप कारण रूप अवश्य हैं क्योंकि आपके परमात्मपदका चिन्तन स्वयमेव विवेक जगाता है और मोक्षकी उपलब्धि करवाता है।

इन पदोंमें भजन-पूजनका उद्देश्य बार-बार स्पष्ट किया गया है। यहाँ भक्तिका अन्तिम लक्ष्य चरणसेवा नहीं है। लक्ष्य है, वीतराग अवस्थाकी प्राप्ति, वैराग्य दशाकी उपलब्धि और उसके द्वारा भव-मुक्ति।

कवि द्यानतरायकी याचना है—

मेरी बेर कहा ढील करी जी। × × ×

साँप कियो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरी जी,

'द्यानत' मैं कछु जाचत नाहीं, कर वैराग्य-दशा हमरी जी।

यद्यपि यह पद दार्शनिक पृष्ठभूमिपर भगवानके प्रति निवेदित है, फिर भी इसमें अनुभूति और निवेदनका वैयक्तिक आधार स्पष्ट है, इसीलिए यह पद सरस और प्रभावपूर्ण है। देखिए, वैयक्तिक निवेदन किस विनोदपूर्ण ढंगसे इन्हीं द्यानतरायने व्यक्त किया है—

तुम प्रभु कहियत दीनदयाल।

आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल।

भले बुरे हम भगत तिहारे जानत हो हम चाल॥

तो फिर कवि चाहते क्या हैं?

और कछु नहिं, यह चाहत हैं, राग-दोष कौं टाल,

तुम प्रभु कहियत दीन दयाल॥

भजनोपासनाके उद्देश्य और लक्ष्यमें ही यह दार्शनिक तत्त्व व्यक्त नहीं है, उपास्यकी मूर्ति और उपासनाकी विधिमें भी दार्शनिक प्रतीकोंका आरोप है। तुलसी, सूर और मीरा जब भगवान कृष्ण या रामका रूप चित्रित करते हैं, तो 'शिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु उदार अंग विभूषणम्' (तुलसी) 'या केसर तिलक मोतिनकी माला वृन्दावनको वासी' (सूर) अथवा 'मोरमुकुट पीताम्बर सोहे, गल बैजन्ती माला' (मीरा) का वर्णन करते हैं। इधर जब द्यानतराय भगवानकी मूर्तिका चित्र खींचते हैं तो उन्हें ध्यान-मग्न मुद्रा ही आकर्षित करती है—

देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है।

कर-ऊपर-कर सुभग बिराजे, आसन थिर ठहराया है।

जगत विभूति भूति सम तज कर, निजानन्द पद ध्याया है॥

* * *

शुद्ध्वुपयोग-हुताशनमें जिन, वसु विधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहै, मानो धुआँ उड़ाया है॥

हथेलीपर हथेली रखे, स्थिर आसनसे बैठी भगवानकी यह ध्यानमग्न सौम्य मूर्ति है। इन्होंने संसारकी विभूतिको चुटकीभर भभूत (राख) की तरह त्याग दिया और अब आत्माकी उस स्थितिका ध्यान कर रहे हैं जो परम आनन्द मय है। उनके सिरपर यह जो श्यामल लटें लहरा रही हैं, यह मानो उस धुएँकी लपटें हैं, जो शुद्ध-उपयोग (आत्म-ध्यान) की अग्निसे उठ रही हैं क्योंकि इस अग्निमें ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मोंकी समिधा (हवन द्रव्य) जला दी गई है।

ऐसी मूर्तिको नमस्कार करना स्वाभाविक ही है। फिर भी इसका एक कारण भूधरदास इस प्रकार देते हैं—

इक चित ध्यावत, वांछित पावत, आवत मंगल, विघन टरै,
मोहनि धूल परी माथै चिर, सिर नावत तत्काल झरै।
जिन राज चरन मन! मत बिसरै॥

चिरकालसे हमारे माथेपर जो मोहनीय कर्मकी धूल पड़ी हुई है, भगवानके चरणोंके आगे सिर झुकाते ही वह धूल झड़ जायेगी। हे मन! जिनेन्द्र भगवानके चरणोंका ध्यान मत भूल। मत भूल, क्योंकि—

को जानै किहि बार कालकी धार अचानक आन परै,
जिन राज चरन मन! मत बिसरै॥

कितने सीधे शब्दोंमें कितनी गहरी बात कह दी है। कितना प्रसाद है इन पंक्तियोंमें! "कौन जानता है कि कालका दुधारा किस समय अचानक ही गर्दनपर आ गिरै।"

भक्ति-भावनाके अतिरिक्त इन पदोंका प्रायः तीन चौथाई भाग ऐसे आध्यात्मिक पदोंका है जिसमें व्यक्तिको आत्मज्ञान, विवेक और वीतराग-अवस्था प्राप्त करनेको प्रेरित किया गया है। यह उपदेश अवश्य है, पर ऐसा उपदेश जिसके पीछे कवियोंका अनुभूत जीवन-दर्शन है। इन पदोंकी

प्रेरणाका प्रभाव इस बातमें है कि इनके कवि अडिग विश्वास और श्रद्धासे स्वयं प्रेरित हैं। किस-किस ढंगसे, किन-किन तर्कोंसे, किन-किन सम्बोधनोंसे—दुलारकर, समझाकर, लताड़कर, लानत भेजकर, सब तरहसे—वे श्रोताके हृदयमें अध्यात्म-तत्त्व जगाना चाहते हैं।

कितनी करुणा है इन कवियोंके उरमें। कैसी मिश्री-सी मीठी और कैसी तीर-सी सीधी हैं इनकी बातें। और आत्मीयता इतनी कि जैसे सारा पद आपके लिए, केवल आपके लिए, रचा गया हो।

अनेक पदोंकी प्रथम पंक्तिमें ही यह मनुहार और दुलार देखिए—

मान ले या सिख मेरी।
....
छाँड़ि दे या बुधि भोरी।
....
रे मन! कर सदा सन्तोष।
....
ऐसा काज न करना हो।
....
विपत्तिमें धर धीर रे नर!
....
देखो भाई! महा विकल संसार।

देखिए, यह खीज और झुँझलाहट, लेकिन कितनी आत्मीय—

तोहि समझायो सौ सौ बार।
....
तू तो समझ समझ रे भाई!
....
चेतन तोहि न नेक सँभार।

और, इस करुणा और स्नेहके क्या कहने!

भोंदू भाई! समुझ सबद यह मेरा।
....
भोंदू भाई! ते हिरदै की आँखें।

और जब व्यक्ति इस दुलार, खीज और करुणासे भी न समझे तो फिर—

रे मन ! तेरीको कुटेव यह ।

....

चेतन ! उलटी चाल चले ।

....

जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ।

....

बिरथा जनम गवायो, मूरख !

पर क्या ये सम्बोधन, ये दुलार-पुचकार, यह खीज और यह लानत-मलामत, सब श्रोताओंके लिए हैं ? नहीं । वास्तवमें कवि अपने ही मनको हर तरहसे समझा-बुझा रहा है और अपने अन्दरके चैतन्यको जागृत करना चाहता है ।

इन पदोंमें अध्यात्मका वह ज्ञान-पक्ष पूर्णरूपसे विकसित अवस्थामें मिलता है जिसका आभास-मात्र कबीर, दादू और नानकके पदोंमें झलकता है । यों इस अध्यात्मको किसी धर्म-विशेष और दर्शन-विशेषसे इसलिए सम्बन्धित कर लेते हैं कि उस धर्ममें इसकी परम्परा प्रधान रूपसे रही है और उसी दर्शनमें यह ज्ञान खुलकर फूला-फला है । पर इस विचार-धाराका प्रभाव प्रायः सभी निर्गुण-पंथियों और ज्ञानाश्रयी शाखाके कवियोंमें अच्छी तरह प्रतिबिम्बित है ।

उदाहरणके लिए कबीरकी वाणी—

साधो सहज समाध भली ।

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा ।

जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा ।।

* * *

कह 'कबीर' यह उन मुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख-सुखसे कोई परे परम पद, तेहि पद रहा समाई॥

और गुरु नानकका यह उपदेश—

साधो, मनका मान त्यागो।
सुख-दुख दोनों सम करि जानौ, और मान अपमाना।
हर्ष शोक तें रहै अतीता, तिन जग तत्त्व पिछाना॥
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागै, खोजै पद निरबाना।
जन 'नानक' यह खेल कठिन है, कोऊ गुरुमुख जाना॥

दोनों पदोंकी आध्यात्मिकताका वही रूप है जो जैन कवियोंके भक्ति-पदोंमें परिपक्व हुआ है।

अनेक ज्ञान-मूलक उद्बोधन-कारी पदोंकी एक विशेषता यह है कि इनमें वस्तु-तत्त्वको प्रतिपादित करनेके लिए जो उपमाएँ, अलंकार और प्रतीक लिये गये हैं उनमें व्यावहारिकताका पुट है। समस्त साहित्यिकता और सरसताको अक्षुण्ण बनाये रखकर भी कवियोंने प्रयत्न किया है इन पदोंकी आध्यात्मिकता सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो। इसलिए इनकी शैली, अभिव्यञ्जना और उपमाएँ बड़ी सीधी और हृदयग्राही हैं। प्रायः प्रत्येक दार्शनिक स्थापनाके समर्थनमें व्यावहारिक हेतु और उजागर दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

कवि बुधजन समझाना चाहते हैं कि मनुष्य पर्याय पाकर इसे विषय-भोगमें बिता देना बहुत बड़ी मूर्खता है। इसके लिए कैसा चुभता हुआ उदाहरण दिया है—

यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो।

इस चित्रको आँखोंके आगे खड़ा कीजिए। कैसा मूर्ख होगा वह पुरुष जो राजसी हाथीपर चढ़कर ईंधन ढोनेका काम करे।

इसी प्रकारका एक दूसरा व्यङ्ग कवि भूधरने कसा है—

चेतन नाम, भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो।
तीन लोकको राज छाँड़िके, भीख माँग न लजायो।

भगवानका दर्शन करते हुए भी आदमीका मन भटक जाता है। "मनवा फिरे बजारमें" वाली युक्तिको बिलकुल विशिष्ट और वैयक्तिक बनाकर उन्होंने लिखा है—

बीतरागके दरसन ही तें, उदासीनता आवै।
तू तो जिनके सन्मुख ठाड़ा, सुतको ख्याल खिलावै।।

इसके व्यंग्यपर लक्ष्य कीजिए। आदमी उन वीतराग भगवानके दर्शन करने पहुँचा है, जिनके दर्शन मोहवृत्तिसे छुटकारा दिलाते हैं। मूर्तिके सामने खड़ा है और घरमें पालनेमें पड़े अपने बेटेका ध्यान कर रहा है—नहीं, ध्यान ही नहीं, 'ख्याल खिलावै'। सुतके ध्यानको साक्षात् सुतकी तरह मनमें खिला रहा है। भाई, ऐसे देवदर्शनसे क्या लाभ ?

भगवानको मान्यता देनेका भूधरका यह तर्क देखिए। भगवान भी दंग रह जायें कि किसीने उनके फ़नकी दाद दी है—

सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठगि खाया।

*　　　　*　　　　*

'भूधर' ठगत फिरत यह सबको, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगिनी को ठग बैठे, मैं तिसको सिर नाया।।

कवि द्यानतरायका निम्नलिखित तर्क देखिए। यह मनमें क्यों न घर करेगा—

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन-कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे ?
उपजै-मरै काल तै प्राणी तातै काल हरेंगे,
राग-दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे।

८

कवि आनन्दघनके तात्त्विक विवेचनमें तो अध्यात्मका चरमोत्कर्ष ही है—

राम कहो रहमान कहो कोऊ, कान्ह कहो, महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
निज पद रमे राम सो कहिए, रहम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्नें सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप आनन्द धन, चेतन मय निष्कर्म री॥

इस प्रकार यह शुद्ध अध्यात्म तत्त्व नाम-रूप, जाति-धर्म, वर्ण-संस्कार सबसे ऊपर है। क्रिया-काण्ड, पीत या गैरिक वस्त्रका परिधान, परिधानका परित्याग, तप-ध्यान, ये सब आडम्बर हैं। ये आत्म-बोध-रहित दैहिक-क्रिया-मात्र हैं। इसे कितने परिमित शब्दोंमें दौलतरामने मृदुतापूर्वक समझाया है—

आपा नहीं जाना तू ने, कैसा ज्ञानधारी रे?
देहाश्रित कर क्रिया, आपको मानत शिव-मग-चारी रे।

तू ने तो धर्मको देहसे की जानेवाली कुछ क्रियाओं तक सीमित कर लिया है और समझने लगा है कि तू शिव-मार्गपर चल निकला!

इसी भावको भूधरदासने उदाहरण देकर खोला है—

अन्तर उज्ज्वल करना रे।
जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे॥
बाहिर भेष क्रिया उर-शुचि सों, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥

संकलित पदोंकी विशिष्ट आध्यात्मिकता तथा इनके भाव और विचार-तत्त्वको समझनेके लिए उपर्युक्त कथन पर्याप्त होगा। इन पदों-

का कवित्व पक्ष भी परिपुष्ट है, इसका अनुमान उक्त उद्धरणोंसे लग गया होगा।

दार्शनिक तत्त्वको समझानेके लिए हमारे कवियोंने जो पदों और भजनोंका माध्यम अंगीकार किया उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि पदमें कविताके साथ गेय तत्त्व सम्मिलित रहता है। यह संगीत पदोंको राग-लय और तानकी अपरिमित सम्भावनाएँ प्रदान करता है। दूसरे यह कि पदका विस्तार सीमित है, अतः संक्षेपमें सब कुछ आ जाता है। तीसरे यह कि उपर्युक्त विशेषताओंके कारण पद आसानीसे याद हो जाता है। अतः अध्यात्म तत्त्वके चिन्तन और मननमें सहायता मिलती है।

एक बात और। इन पदोंका दैनिक जीवनमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान था, इनका स्पष्ट प्रयोजन था। हमारे आध्यात्मिक जीवनकी यह परम्परा रही है कि प्रायः प्रत्येक धर्म और पंथके व्यक्ति अपने-अपने धर्म-स्थानमें प्रातः-सायं एकत्रित होते थे। वहाँ गुरुका प्रवचन सुनते थे और अन्तमें स्तुति-पदोंका गान होता था। धर्मका यह कितना सुन्दर, सरस और ग्राह्य रूप था। आज भी अनेक जैन-मन्दिरोंमें शास्त्र-सभाएँ होती हैं, और ये पद या इसी प्रकारके पद गाये जाते हैं। इस प्रकारका भजन-गान गान्धीजीकी प्रार्थना-सभाओंका भी मुख्य अंग था। एक पदमें दौलतरामजीने धार्मिक संगम और धार्मिक प्रवचनका ऐसा सुन्दर चित्र खींचा है कि मन मुग्ध हो जाता है। साधर्मी जन मिलते हैं; प्रवचनकी अमृत झड़ी लगती है—ऐसी कि सहस्र-सहस्र पावस फीके पड़ जायें—

> धन-धन साधर्मी-जन-मिलनकी घरी।
> बरसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन-झरी॥
> जाके बिन पाये भव-विपति अति भरी।
> निज-परहित-अहितकी कछु न सुधि परी॥

जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
संशय-भ्रम-मोह की सो वासना हरी ॥
धन-धन साधर्मी-जन मिलनकी घरी !

सम्यक्त्वका जो सावन-रूपक दौलतरामने बाँधा है और भूधर-दासने सद्गुरुका स्वरूप दर्शाकर उनकी परीषहोंका जो बारहमासा उपस्थित किया है, वह हिन्दी साहित्यमें निश्चय रूपसे अद्भुत है। बारहमासा जब सधे स्वरमें गाया जाता है, तो आनन्दाश्रु उमड़ आते हैं। आश्चर्य होता है आध्यात्मिक कविताकी रसदायिनी क्षमतापर। दोनों कविताओंमेंसे एक-एक छन्द उद्धरित है। सम्यक्त्व-सावनका रूपक है—

अब मेरे समकित सावन आयो।
बीति कुरीति-मिथ्यामति-ग्रीषम पावस सहज सुहायो।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा-घन छायो।
बोले विमल विवेक-पपीहा, सुमति-सुहागिन भायो ॥

मुनिराजके बारहमासेका एक छन्द है—

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि-जिहाज।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषि राज ॥
ते गुरु मेरे मन बसो—

जेठ तपै रवि-आकरो, सूखै सरवर-नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर ॥
पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरु तल निवसें साहसी, बाजै झंझावार ॥
वे गुरु चरण जहाँ धरें, जगमें तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढ़ौ, भूधर मांगे येह ॥
ते गुरु मेरे मन बसो।

ऐसे आध्यात्मिक साहित्यके आगे आजके वे सब साहित्यिक विवाद हवा हो जाते हैं जिनमें प्रश्न उठाये जाते हैं कि 'साहित्यका प्रयोजन

क्या है ?' 'साहित्यमें रसका क्या स्थान है ?' 'अन्तर्मुखी व्यक्ति-निष्ठ कविता प्रयोजनीय है या नहीं ?'....आदि

आचार्योंने काव्यका प्रयोजन बताया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

अर्थात् काव्य यशोपार्जनके लिए, व्यवहार ज्ञानके लिए, शिवेतर अर्थात् जो शिव (मंगल) से इतर (भिन्न है) उसकी क्षतिके लिए, शीघ्र मुक्तिके लिए और प्रणयिनी भार्याके-से मधुर उपदेशकी उपलब्धिके लिए रचा जाता है।

आध्यात्मिक काव्य-रचनामें कविको विपुल यश तो अयाचित ही मिल जाता है और व्यवहार-ज्ञान उस सीमापर पहुँच जाता है जहाँ उसकी प्रतिक्रिया जीवन-तत्त्वके निष्कर्षके रूपमें उसे अध्यात्मकी ओर ले जाती है। शेष तीन प्रयोजन, अर्थात् अमंगलकी क्षति, मोक्षमार्गकी निकट प्राप्ति और मधुर उपदेश यदि आध्यात्मिक काव्यसे पूरे नहीं होते तो संसारके और किसी भी काव्यसे कभी पूरे न होंगे। इस तरह इन आध्यात्मिक पदोंमें भक्ति और ज्ञानका जो भव्य रूप अंकित किया गया है, हिन्दी साहित्यमें वह अद्भुत है। श्रद्धा और विवेकका ऐसा सामञ्जस्य भी अन्यत्र दुर्लभ है। इन पदोंकी भावात्मक पृष्ठभूमि, विचारोंकी सात्त्विकता, आत्मनिष्ठ अनुभूतिकी गहराई, अभिव्यक्तिकी सुघराई, इनकी सरलता, शालीनता और सरस गेयता सब भव्य हैं। इन तत्त्वोंका समन्वय ही विचारशील पाठकके मनमें लोकोत्तर आनन्दकी सृष्टि करता है।

समय आ गया है कि हिन्दी साहित्यके अध्येता अपने इन अध्यात्म-स्रष्टा कवि कलाकारोंके साहित्यसे परिचय प्राप्त करें। यह परितापका विषय है कि हिन्दी साहित्यके इतिहास-ग्रंथ कविवर बनारसीदास, द्यानतराय, दौलतराम, भूधरदास, बुधजन, भागचन्द्र आदिके विषयमें प्रायः मौन हैं। इनमें कईका तो नामोल्लेख भी नहीं !

● ●

दो अक्षरोंके मायालोकमें शेक्सपीयर

शेक्सपीयरके ३७ नाटकों और ७ काव्य-ग्रन्थोंका अध्ययन करनेके बाद उस भारतीय रिसर्च स्कॉलरने कुछ 'नोट्स' लिये, कुछ टिप्पणियाँ लिखीं, कुछ संकेत दर्ज किये।

एक जगह एक चिटके कोनेपर अंग्रेज़ीका B लिखा था जिसपर कई बार पेन्सिल फेरी गयी थी, उसे बड़ा किया गया था, सजाया गया था, जैसे वह कोई महत्त्वपूर्ण अक्षर हो। पर मैं बिलकुल ठीक अनुमान लगा सकता हूँ कि जब वह विद्वान् अध्येता B को 'सजा' रहा था तो उसका मन न मालूम शेक्सपीयरके अनन्त अपरिमित विश्वके किस कोनेमें खोया हुआ था।

B के बाद उसने D बनाया था जो बड़ी लापरवाहीसे लिखा गया था। हो सकता है अध्ययनके बीचमें अचानक ही जिस B को वह लिखने लगा था और पाँच मिनटतक जिसे सजा-सजाकर काग़ज़को फाड़ता-सा रहा था, उस B को अंकित करनेवाले वे पाँच मिनट ही साहित्यकी सृष्टिके अमूल्यतम क्षण हों और तब जल्दीसे D लिखकर उसने सन्तोषकी साँस ली हो।

उस दिन दिल्लीकी जामा मस्जिदकी सीढ़ियोंपर बैठे हुए कबाड़ीसे दो-चार पुरानी किताबें ख़रीदीं तो एक मोटे लिफ़ाफ़ेमें बन्द इन पर्चों और पुर्ज़ियोंको अस्त-व्यस्त क्रमसे रखा पाया था। छह आनेमें वह 'रद्दी' ख़रीद ली थी। क्योंकि लिफ़ाफ़ा इतना बढ़िया था कि कबाड़ीने उसके चार आने आँके। रद्दीके तो ख़ैर दो आने भी बहुत थे, जैसा कि कबाड़ीने स्वयं स्वीकार भी किया!

भगवद्दत्तने—यदि उनका नाम भगवानदास या बद्रीदास हो तो पाठक क्षमा करेंगे क्योंकि जैसा ज्यूलिएटने अपने प्रेमी रोमियोसे कहा था 'नाममें क्या! जिसे गुलाब कहते हैं वह किसी और नामसे भी ऐसी ही गन्ध देगा!'—अपनी टिप्पणियोंपर अनेक शीर्षक दे रखे हैं। कुछ शीर्षक थे: 'लाल परदा, नीला परदा', 'मिरैण्डा और शकुन्तला', 'हैमलेटका पिता जब मारा गया तो हैमलेट कहाँ था?' 'माढव्यने फ़ॉलसटाफ़से क्या कहा?' (मैं तो पढ़कर दंग रह गया! संसारमें सबसे पहली बार यह बात इस व्यक्तिने सोची!), 'शेक्सपीयर एक साहित्यिक चोर', 'शेक्सपीयरके ऐक्टिंगकी ख़ूबियाँ', 'वकीलका मुंशी : घोड़ोंका साईस : स्ट्रैटफ़ोर्डका रईस!'

शीर्षकोंके अतिरिक्त कहीं-कहीं विचित्र प्रकारके भावोच्छ्वास हैं, और····और····लगता है जैसे भगवद्दत्तने 'हैमलेट' के प्रेतसे बातें की हों, जैसे उसने 'मैकबैथ' की चुड़ैलोंसे इण्टरव्यू ली हो, जैसे उसने शाइलॉकको धन्यवादका पत्र लिखा हो, जैसे उसने 'ऐज़ यू लाइक इट' नाटकमें वर्णित आर्डनके जंगलमें जाकर वहाँके पेड़-पौधों और जानवरोंके चित्र लिये हों।

एक जगह लिखा है : 'माँ, गरट्रूड! मुझे अपना बेटा बना लो!'

अपने पतिकी हत्याके बाद देवरसे विवाह कर लेनेवाली इस अभिशप्त स्त्री—हैमलेटकी माँको—भगवद्दत्तने किस दृष्टिकोणसे देखा, मैं आजतक न समझ पाया। एक पूरा नाटक-मय निबन्ध—रिपोर्ताज़ कहूँ क्या—इसी शीर्षक-पर है : 'शेक्सपीयर और उसके कुछ पात्र : आमने-सामने !' और इस पर्चेपर यह क्या लिखा—

"आज २३ अप्रैल १९१६ को शेक्सपीयरकी ३०० वीं बरसीके दिन मैंने स्ट्रैडफ़ोर्ड जाकर उनकी समाधिपर पुष्पमाला चढ़ायी।

इसके नीचे लिखा है : लग रहा है जैसे आज सारे संसारका वैभव मेरी मुट्ठीमें आ गया, जैसे विश्वकी प्राणवायु मेरे श्वासोंके माध्यमसे हिलोरें ले रही है, जैसे जगत्का चैतन्य, पृथ्वीकी गन्ध, आकाशके शब्द, तारोंका नृत्य, सागरका गान, वसुधाका सौन्दर्य, सब मेरी दो भुजाओंमें सिमटता आ रहा है—और मैं आनन्दकी वेदनासे भर रहा हूँ।

We are such stuff
As dreams are made of,
and our little life
Is rounded with a sleep.

दो-चार दूसरे 'नोट्स' जैसे हाथमें आते जा रहे हैं, नक़ल करता जाता हूँ।

* * *

पोर्शिया—(शेक्सपीयरसे) मैं पूछती हूँ, जब आपने 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस'की नायिका मुझे बनाया तो नायक माना होगा मेरे प्रेमी बैसेनियो-को। पर नाटकका नाम आपने रखा है एण्टोनियोके नामपर, क्योंकि वेनिसका सौदागर वही है, उसीके जहाज़ डूबते हैं, वही मेरे प्रेमीकी जमानत देता है, वही अदालतमें वीर युवक बनकर मित्रताके लिए अपने प्राण न्योछावर करनेको उद्यत होता है। आपके मनमें बैसेनियोके लिए कुछ विशेष मोह था ही नहीं ? उसके चरित्रको कहीं भी तो ऐसा

उभार नहीं मिला कि उसकी वेदीपर समर्पणकी दीपशिखा बनकर कोई स्त्री धन्य हो पाती !

शेक्सपीयर—तो तुम्हें बैसेनियोके प्रति विरक्ति है या एण्टोनियोके प्रति अनुरक्ति ? या दोनों एक साथ, जो भयंकर बात होगी !

पोर्शिया—कैसी बात करते हैं आप ? मैं वकील हूँ। आप इस तरह मुझे चुप न कर पायेंगे। मैं अपनी बात नहीं कह रही। मैंने तो खूब सोच-समझकर परीक्षा करके अनेकोंमेंसे इस एकको चुना है। मेरा तो आरोप यह है कि आपने बैसेनियोको मेरी नजरसे नहीं देखा और इसलिए आपने उसके प्रति अन्याय किया।

शेक्सपीयर—बेटी, न्याय-अन्यायकी बातका जवाब मुझसे बड़ा जो विधाता है वही दे सकता है। पर, यह क्या कम बात है कि मैंने उस पोर्शियाकी सृष्टि की जो मोरक्को और अर्रागौनके राजकुमारोंके वैभवकी चौंधको झेल सकी, जो ऐण्टोनियोके चरित्रकी सुबाससे मुग्ध-मोहित न हो सकी और जिसने वरणीयको ही वरा। हाँ, नाटकका नाम 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' जरूर है, पर सच पूछो तो नाटकका नायक कोई दूसरा ही है।

पोर्शिया—कौन ?

शेक्सपीयर—इसका उत्तर यदि आवश्यक न हो तो जोर मत दो। जितना स्पष्ट है, उतना ही मानकर चलो।

पोर्शिया—स्पष्ट तो यह है कि मैं आपकी सृष्टिकी एक मनोरम नायिका हूँ और शाइलॉक एक घृणित 'खलनायक !'

शेक्सपीयर—खलनायक ! विलेन ! 'खल'की बात उस युगके दम्भ, अन्धविश्वास और अमानवीय आचरणकी सन्तुष्टिके लिए ही मानो। हाँ, 'नायक'-पन यदि इस पात्रके सम्बन्धमें स्पष्ट है तो मेरा प्रयोजन पूरा हुआ !

इसके बाद एक तरफ़ लाल स्याहीका बौर्डर देकर, 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' का उद्धरण दिया हुआ है—

Shylock—He hath disgraced me, laughed at my Losses, mocked at my gains, scorned my nation, thwarted my bargains, cooled my friends, heated my enemies; and what's his reason ? I am a Jew ! Hath not a Jew eyes, hath not a Jew hands, organs, dimensions, senses, affections, passions ?......If you prick us do we not bleed ? If you tickle us, do we not laugh ? If you poison us, do we not die ? *And if you wrong us, shall we not Revange ?...............*

शेक्सपीयरने स्वयं मुझे बताया है : "शाइलॉकके व्यक्तित्वकी परिधि इतनी विशाल है कि जब वह अनादृत और लाचार लड़खड़ाता हुआ कचहरीसे यह कहता हुआ निकलता है कि—I pray you, give me leave to go from hence : I am not well ; send the deed after me , and I will sign it...तो दर्शकका मन बैठ जाता है। शाइलॉक फिर सामने नहीं आता लेकिन उसकी छाया जैसे किसी बर्फ़ीले अवसादकी मूर्ति बनी हृदयके स्टेजपर जमी हुई खड़ी रहती है। उसके बाद पोर्शिया और बैसेनियोकी प्रणय-लीला और उत्सवका रंगीन व्यापार कितना हृदयहीन-सा लगता है। वत्स, मैं यही चित्रित करना चाहता था। अन्यायदग्ध मानवताके प्रति यह आँसुओंका तर्पण मुझसे बन सका, यह बड़े सन्तोषकी बात है।"

* * *

प्यारे हैमलेट,

हृदयके प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर कब किसी असफल प्रेमिकाको अपने

प्रेमीसे मिला है ? फिर भी मैं तुमसे एक प्रश्न करनेकी धृष्टता कर रही हूँ।

तुम डेन्मार्कके राजकुमार, मैं एक दरबारीकी अबोध-अपढ़ लड़की। मुझे मालूम होना चाहिए था कि यह प्रेम निभने वाला नहीं—यह मरीचिका भी नहीं, स्वप्न तक नहीं! मैं अपनेको ज्युलिएट समझ बैठी! रोमियो और हैमलेट—पाताल और आकाशका अन्तर!

यह तो मानोगे कि प्रेमकी पहल तुम्हारी ओरसे हुई। मुझे क्या मालूम था प्रेम क्या होता है! आज भी क्या जानूँ कि उसकी क्षमताएँ, सम्भावनाएँ और बिस्तार तन, मन और आत्मा को क्या-क्या वरदान दे सकते हैं। मैं तो केवल प्रेमके अभिशापसे ही परिचित हूँ। बताओ तो, मेरी साँसोंके मालिक! एकबार बतादो, तुमने मुझे हृदयमें कितना स्थान दिया था ?

मैंने तिलको ब्रह्माण्ड मान लिया। कैसी मूढ़ हूँ मैं! जानते हो, मैं पागल क्यों हुई ? मेरी मौत क्यों हुई ? माँ बचपनमें ही मर गयी, पिता राज-दरबारके कामोंमें व्यस्त रहे। प्यार बहुत करते थे, लेकिन मैं सारे दिन अकेली-अकेली! एक भाई था, उसे राजाने विदेश भेज दिया। मेरी कोई सहेली कभी थी नहीं। कोई दासी भी आसपास नहीं रही। तुम वसन्तके सरल झोंकेकी तरह एकदिन जीवनमें आये, प्राणोंको सहारा मिला। पर हाय रे भाग्य! तुम आँधीके झोंकेकी तरह सबकुछ खण्ड-खण्ड करके विक्षिप्त अट्टहास करते हुए बाहर जा खड़े हुए, दूसरे ही क्षण!

ऐसा क्यों ? तुम्हारी ऐसी हालत देखकर ही पिताजीने मना कर दिया था कि तुम्हारे पत्रोंका जवाब न दूँ। पर यदि तुम सचमुच विक्षिप्त थे तो मुझे प्रेम-पत्र ही क्यों लिखे ? उस दिन तुम अचानक मेरे एकान्त-कक्षमें आ गये—आँखोंमें सावन छा गया! पर, तुम्हारे चेहरेको देखा, तो चीख-सी निकलनेको हो गयी। तुम पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगे। बादमें तो तुमने मुझे कितनी गालियाँ दीं, कितनी लानत-मलामत की, प्रेमकी हँसी

उड़ायी, समूची नारी-जातिको अपमानित किया, लांछना लगायी। बोलो, मेरा क्या अपराध था ?

मेरा मन क्षत-विक्षत हो गया। जीवनका एक-मात्र आधार लड़खड़ाकर गिर गया। हैमलेट, प्यारे-प्यारे हैमलेट ! मैं इसीलिए पागल हो गयी। मैं सुहागके गीतकी कड़ी गाते-गाते मर गयी ! अब इस खतका क्या होगा ?

—उपेक्षिता, किन्तु तुम्हारी, ऑफ़ेलिया

* * *

कैण्टक—शेक्सपीयरको सब जानेंगे, 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' को सब पढ़ेंगे, पोर्शियाके चरित्रको सब प्यार करेंगे, पर इस बेचारे कैण्टकको कौन जानेगा ?

कहीं-कहीं शेक्सपीयरके अपने हाथके लिखे नोट्समें K लिखा मिलता है। यह कैण्टक है, और भी कुछ नाम हो सकता है। पर यह था एक छोकरा—युवक कहनेसे कहीं सांस्कृतिक गम्भीरता न आ जाय !

यह छोकरा साढ़े तीनसौ साल पहले रास-मण्डलियोंमें काम करता था। एक मण्डली थी : लॉर्ड चेम्बरलेनकी नाटक मण्डली। यह शेक्सपीयरके नाटक खेला करती थी। सच तो यह कि इस मण्डलीमें शेक्सपीयरने ख़ुद रुपया लगा रखा था और इसकी आयमें उसका हिस्सा था।

खैर, यह बात छोड़ी जाय। मतलब यह है कि छोकरा उस रोज शेक्सपीयरसे उलझ बैठा। उस वक़्त तक शेक्सपीयर एक बहुत साधारण नाटककार ही थे।

K—मैं आपके नये नाटक, 'मर्चेण्ड ऑफ वेनिस' में पार्ट नहीं करूँगा।

शेक्सपीयर—क्यों ?

K—इसलिए कि आपने शाइलकको और मुश्किल बना दिया। आप खास-खास स्त्री पात्रोंका अभिनय मुझसे करवाते हैं। मैं करता भी हूँ—

शेक्सपीयर—हाँ, ज्यूलियेटका अभिनय तुमने बड़ा सुन्दर किया।

K—पर, पोर्शियाका मैं नहीं कर पाऊँगा। लड़कियाँ नाटकोंमें पार्ट नहीं करतीं। दर्शकोंमें कभी कोई स्त्री दिखाई नहीं पड़ती। स्टेजपर जो रानी और राजकुमारियाँ बैठती हैं उनकी तरफ़ आँख उठाकर देखना भी क़यामत है। तो फिर स्त्रियोंका पार्ट करना कैसे सीखा जाय?

शेक्सपीयर—तुम करते तो हो ही, और ख़ूब करते हो। फिर पोर्शियाके पार्टसे क्यों घबरा रहे हो? स्वयंवरका दृश्य बड़ा मजेदार है। शानदार करोगे। बड़े अच्छे-अच्छे डायलॉग्स दिये हैं मैंने।

K—जी, पर मेरे प्राण तो कोर्ट-सीनको सोच-सोचकर खुश्क हुए जाते हैं। उस दृश्यमें तो पोर्शिया, जो स्त्री है, पुरुष वकील बनकर आती है। यानी मैं, एक लड़का, पहले लड़कीका पार्ट करूँ, फिर एक लड़का लड़की होते हुए यह दर्शाये कि वह लड़केका पार्ट कर रही है। न सहज लड़का, न सहज लड़की! न ही लड़का लड़कीका पार्ट करे, बल्कि लड़का लड़की बनकर लड़के का····

शेक्सपीयर—अच्छा, अच्छा, मैं समझा। देखो, आज अपने देशमें रिचर्ड बर्बेजसे बड़ा तो कोई ऐक्टर नहीं। मैं कह दूँगा, तुम्हें वह स्वयं निर्देशन दे देंगे।

(शेक्सपीयरने प्यारसे K की पीठ ठोकी, कहा—)

Let your own discretion be your tutor : suit the action to the word, the word to the action—overstep not the modesty of nature—the purpose of playing is to hold, as it were, the mirror upto nature...................

*　　　*　　　*

उस दिन शेक्सपीयरसे मैंने कहा :

'ऐज यू लाइक इट' में आपने इतनी बड़ी मनोरंजक रंगशाला प्रकृति-के अंचलमें स्थापित की कि आर्डनका वन सजीव हो उठा। लगता है जैसे कहीं तो पेड़ोंकी सघन छायामें और कहीं मुक्त गगनके नीचे अनन्त पुष्प-

राशि बिखरी पड़ी है और कहीं बीहड़ सुनसान जंगलमें आँधियाँ अट्टहास कर रही हैं। यह इन्द्रजाल बड़ा अद्‌भुत है। दर्शक और श्रोता और पाठक सभीको अपनी जादूकी दृष्टिसे आपने मोह लिया, पर इस रिसर्च स्कालर-की छान-बीन शायद आपको भी स्तम्भित कर दे। सुनिए—

इस नाटकमें एक भी पक्षीका, एक भी कीड़े-मकोड़ेका नाम आपने नहीं लिया। किसी फूल तकका नाम नहीं आता। यहाँ तक कि फूल और पत्ता शब्द भी नहीं आते कहीं। पेड़ोंमें भी सिर्फ़ ओक, हॉथॉर्न, ताड़ और जैतूनके ही नाम आते हैं।

"आश्चर्य है!" शेक्सपीयरने सुनकर बड़े सरल भावसे कहा, "मुझे खुद भी नहीं मालूम था यह सब।"

इस नोटके नीचे लिखा है:

पक्षियोंके कलरवसे गुञ्जरित,
पत्राच्छादित वनस्थली!
आत्माकी विश्राम भूमि!
चराचरका रंगमंच,
जहाँ वसन्त वनसे अधिक हमारे मनमें
खिलता है।

* * *

शेक्सपीयर! तुमने मेरी आत्मामें हजार-हजार बिच्छुओंके दंशकी वेदना उत्पन्न कर दी। तुम्हारे पात्र तो बोलते ही हैं, तुमने वातावरणमें भी आश्चर्यजनक प्राण डाले हैं। तुमने मनुष्यमें, प्रेतमें, छायामें, स्वप्नमें, प्रकृतिमें, वातावरणमें, कहीं तो कुछ सीमा-रेखा रखी होती कि इन्सान अपनी क्षुद्रताओंको और अपनी महत्ताओंको बड़ा माननेके दम्भकी रक्षा कर सकता!

'मैक्बेथ' में तुमने यह कैसी गहरी कालरा, कालिख, कज्जला, तमिस्रा फैलायी है कि इन्सानको साँस लेना दूभर है! मैक्बेथको किस स्त्रीके हाथों छोड़ दिया तुमने! इस गहन अन्धकारमें, सुनसान बीहड़में, ऊँघते हुए रास्तेमें, मूच्छित छायाओंकी कायापर ये कैसा रक्त-लोलुप छुरा (डैगर····डैगर····डैगर) झूल रहा है! ये चुड़ैलें किस दानवीय अभिसार-के लिए निकली हैं और क्या सचमुच यह लेडी मैक्बेथकी—एक नारी की—आवाज़ है!

"रे कायर! तू महत्ताको मृदुतासे पाना चाहता है? सुनले, कान खोलकर कि हर ऊँचाई किसी पवित्रताकी लाशपर खड़ी होकर समर्थ बनी है। तू झिझकता क्यों है? सँभाल यह छुरा—चल—उठ, बुज़दिल! तूने डंकनकी हत्याकी जैसी प्रतिज्ञा की है, यदि मैंने उसी तरहकी प्रतिज्ञा अपने बच्चेके बारेमें की होती तो देख····मैंने बच्चेको छातीका दूध पिलाया है; मैं जानती हूँ कि स्तनको मुँहमें दबाये, दूध पीता मुसकराता बच्चा माँ की आत्माको कैसा सुख पहुँचाता है····; पर, अगर मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की होती तो उस बच्चेके अस्थिहीन मुखमेंसे अपने स्तनकी घुण्डी झटका देकर उपाड़ लेती और उस बच्चेको धड़ामसे शिलाखण्डपर पटककर उसके भेजेके खण्ड-खण्ड कर डालती!

रक्त? रक्तसे डरनेकी बात ही क्या? ज़रा-सा पानी डाला और रक्त धुला!"

सारे नाटकमें कल्पना डायन बनकर चीख़-पुकार मचा रही है। कहीं धरती ज्वरसे छटपटा रही है, कहीं संसारके चौखटेकी खरपच्चियाँ उड़ गयी हैं, कहीं इन्सान निःसहाय दुरवस्थामें स्वर्गके मुँहपर इस ज़ोरका चाँटा जड़ रहा है कि दिग्दिगन्तमें मर्मभेदी कराह गूँज उठती है। बिच्छुओंके दंशसे भरा मन वेदनाके आह्लादसे छटपटाता हुआ चट्टानोंपर लुढ़क-पुढ़क हो रहा है।

बिजली कड़कती है, झक्कड़ घुमड़ते हैं, तूफ़ान गरजते हैं, पेड़ उख-

ड़ते हैं, गिरजे ध्वंस होते हैं, जहाज़ चकनाचूर होते हैं और इस साज-सामानके साथ आँधीकी छातीपर झूलता मैक्बेथ सिंहासनपर बैठता है और फिर तूफ़ानके पंखोंपर पींग भरता महानाशकी ओर अभियान करता है !

*　　　　*　　　　*

लेडी मैक्बेथके बारेमें जब मैंने बी० डी० के 'नोट्स' पढ़े तो मन कई दिन तक, बल्कि हफ़्तों तक, ख़राब रहा। उस दिनसे उस समूचे नाटकका वातावरण सीनेपर शिलाकी तरह आ जमा है।

मनमें बराबर प्रश्न उठता रहा कि नारीका यह चरित्र जो इतना एकांगी और अतिरंजित लग रहा है क्या वास्तवमें शेक्सपीयरने ही ऐसा चित्रित किया या उसे समझनेमें बी० डी० ने भूल की। मुझे लग रहा था कि बी० डी० ने लेडी मैक्बथके चरित्रका जो चित्र प्रस्तुत किया है उससे स्वयं उसके मनको भी सन्तोष न हुआ होगा। जो व्यक्ति स्वयं शेक्सपीयरसे बातें कर सकता है वह प्रश्नको अधूरा नहीं छोड़ेगा। पर सारे नोट्स छान डालनेपर भी समाधान न मिला।

एक दिन उन कागजोंको उलटते-पलटते देखा कि एक पत्रपर शार्टहैण्डमें कुछ लिखा हुआ है। कार्यालयकी स्टेनोग्राफ़र मिस पर्सीने उस टिप्पणीको यों पढ़ा—

मैं स्वयं नहीं जानता कि १६ वीं शताब्दीके लन्दन और क्वीन एलिज़ाबेथके महलोंमें मैं सशरीर कैसे पहुँच गया ? चार बजे थे, 'मैक्बैथ' का अभिनय हो रहा था।

शेक्सपीयर स्वयं स्टेजके पास दरबारियोंके बीच बैठे थे। स्टेजसे सटी एक ऊँची-सी अगर सिंहासननुमा मखमली गद्दीपर ढला-यौवनके सेक-आगमें तनी-सजी पचपन वर्षीया क्वीन एलिज़ाबेथ बैठी थीं और अपनी भाव-भंगिमासे उन्होंने एक ऊबा पुराना-सा आतंकित वातावरण बना रखा था।

आस-पास अनेक राजपुरुष बैठे थे—कई अर्ल, कई ड्यूक—विशेषकर वह बौना, चेचकी चेहरे वाला ३८ वर्षीय ड्यूक अलेन्शन, जिसके बारेमें पिछले २० सालसे लोगोंकी जबान बन्द नहीं हुई थी। खैर, लेडी मैक्बेथ स्टेजपर अभिनय कर रही थी! भय और आशंकासे विवर्ण चेहरा बनाये सामने खड़ा था मैक्बेथ। लेडी मैक्बेथ ज़ोरसे चीखी—

I have given suck and know
How tender 'tis to love the babe that milks me.
I would, while it was smiling in my face,
Have plucked my nipple from his boneless gums
And dashed the brains out, had I so sworn as you
Have done to this!

सुनते ही जैसे देहकी एक-एक शिरा स्फुलिंग बन गयी, धमनियोंमें बिजली दौड़ गयी। शायद स्मृतिकी इन्हीं अनुभूतियोंने बेचैन बनाकर उस दिन मुझे लन्दन पहुँचाया था और वहाँ देखा साक्षात् लेडी मैक्बेथका वही अभिनय!

मैं भागा····भागा····शोर मचाता हुआ भागा। लेकिन पकड़ा गया था। क्वीन एलीजाबेथ शायद किसी ऐसे ही विघ्नकी प्रतीक्षामें थीं जो वह तत्काल उठ खड़ी हुईं। ड्रामा भंग हो गया। अब मैं रानीके सामने था····

इसके बाद बी० डी० ने शार्टहैण्डमें जो लिखा था वह मिस पर्सीसे पढ़ा नहीं गया। पाँच-सात वाक्य छोड़कर पर्सीने आगे पढ़ा :

एलीजाबेथ : हो सकता है, हो सकता है, कि तुम शेक्सपीयरके मर्म-पुत्र हो। लेकिन इन महलोंमें प्रवेशका अधिकार तुम्हें किसने दिया? क्या तुम शेक्सपीयरके साथ आये? कहाँ है शेक्सपीयर? बुलाओ! हाजिर करो!

९

मैं : नहीं, नहीं, उन्हें न बुलाइए ! जो सज़ा देनी हो मुझे दीजिए ।

एलीज़ाबेथ—झूठसे डर गया !

मैं : नहीं, महारानी, सत्यकी व्यथा झेल सकूँ ऐसा मन लेकर मैं इस संसारमें नहीं आया । झूठके कोड़े सहनेके लिए यह अस्थि-पंजर हाज़िर है । लेडी मैक्बेथका छुरा मैंने अपने सीनेमें झेला है । मेरे घावकी तड़प मुझे खींच लायी है । लेडी मैक्बेथ····क्वीन एलीज़ाबेथ····लेडी मैक्बेथ···· (अप्रत्याशित आवेगके स्वरमें) मैं पूछता हूँ महारानी, मैं पूछता हूँ, मुझे जवाब दो और मेरे प्राण ले लो, कि लेडी मैक्बेथके चरित्रके बारेमें आपकी क्या राय है ?—अपने राजसिंहासनकी परछाई····क्वीन मेरी ऑव स्कॉटके नाम आपने जो क़त्लका हुक्मनामा निकाला था (आपके सिंहासन-की चमक उसकी आँखमें थी, उसके सौन्दर्यकी जलन आपके सीनेमें) उसे याद करके बताइए आपकी निगाहमें लेडी मैक्बेथ क्या है····आप क्या हैं···· राजसिंहासन क्या है ?

मुझे याद नहीं उसके बाद क्या हुआ ! एक दिन पाया यह कि मैं अपने ही देशमें अपने होस्टलकी चारपाईपर पड़ा हुआ था । शायद बीमार था । शेक्सपीयर मेरे सिरपर प्यारसे हाथ फेर रहे थे और लेडी मैक्बेथकी आवाज कहीं अदृश्यसे आ रही थी :

बेटा, मुझ अभागिनको लेकर तुम इतना बड़ा काण्ड कर बैठे ! मेरे छुरेकी धार तुम्हारे कलेजेमें काट कर रही है । मेरे हाथोंमें लगा रक्त तुम्हारे सपनोंकी दुनियाको खूनके तूफ़ानोंमें डुबा रहा है ! पर मैं क्या करूँ ? मैंने खून देखा ही न था । खून मेरे सामने ही न था । मेरे सामने था मेरा महत्त्वाकांक्षी पति, और मेरे पतिके सामने था डंकनका राज-सिंहासन । पति और राजसिंहासनके बीचकी खाईको मैंने अपने प्राणोंसे पाटा । वहाँ तक पहुँचनेका साधन भी मैंने ही सुझाया : मैक्बेथके हाथमें छुरा मैंने दिया । राजनीतिकी बाज़ीमें दूसरोंकी गोटका ही चलन है । मैंने गोट भी दी और चाल भी सिखायी ।

फिर भी मेरा पराक्रमी किन्तु कोमल पति काँप उठा। शायद मेरा बलिदान अभी अधूरा था। और, मेरे हृदयमें निरीह प्रार्थना फूट पड़ी : 'हे देवी, हे माँ प्रकृति, तुमने मुझे नारीकी योनि क्यों दी ? मेरे अन्दरसे मेरा समूचा नारीत्व समेट लो, समाप्त करदो। मुझे एड़ीसे चोटी तक घोर हिंसासे भर दो।''

मेरी प्रार्थना स्वीकृत हुई और मैंने अपने नारीत्वकी बलिसे पतिके दर्प-देवताको तृप्त किया। खून मैंने देखा नहीं था, इसीलिए मैंने अपने पतिको समझाया था :

A little water cleans us of the deed;

लेकिन अन्दरसे मैं कितनी निर्बल थी, कितनी बुद्धिहीन थी। मालूम है मैंने क्या किया ? मेरे पतिने जब अपने अतिथि राजा डंकनकी हत्या कर डाली तो मैंने छुरेको अपने सोते हुए दरबानोंके सिरहाने रख दिया, और उनके हाथोंपर छुरेसे रक्त उठाकर मल दिया। मेरी मत मारी गयी थी——

हत्या करनेवाला व्यक्ति क्या अपने ही सिरहाने छुरा रखे रहेगा ? और रखकर सो जायगा ? कैसी अन्धी थी मैं ! पर अन्धी भी कहाँ थी ? खूब नजर आ रहा था। स्वप्न तकमें सब नजर आ रहा था। कितना खून बहा था !

Yes, who would have thought the old man to have had so much blood in him!

हत्यासे पहले मैं कमरेमें झाँक आयी थी; बूढ़ा डंकन आरामसे सो रहा था। वास्तवमें, मैं स्वयं ही हत्या करने गयी थी; और

Had he not resembled my father, I would have done it.

देखो तो मेरे इस हाथको ! इसमें खून लग गया था, मैं रातों-रात स्वप्नमें बड़बड़ाया करती थी :

Will these hands never be clean ?....All the perfumes of Arabia will not be able to sweeten this little hand.

हाय ! वह हाथ कभी न साफ़ हो पाया। हाय, वह खून हाथसे उठकर माथेपर जा लगा। कलंकका खूनी टीका क्या सचमुच सदा माथेपर लगा रहेगा ? मैं यही सोचती रही और न मालूम कब डाक्टरों द्वारा मैं पागल क़रार दे दी गयी, कब मर गयी !

* * *

हैमलेटकी डायरीके कुछ अंश

यूनिवर्सिटीमें दर्शन-शास्त्रके प्रोफ़ेसरसे वह प्रश्न करना मैं आज भी भूल गया। आदमी भूल क्यों जाता है ? याद रखनेकी प्रक्रिया क्या है ? इतने विचार, इतने चित्र, इतनी स्मृतियाँ, इतनी अनुभूतियाँ—सब रहती कहाँ हैं ? और फिर भी मन रुकता नहीं, नये-नये संसार गढ़ता चला जाता है। गढ़ता है तो ध्वंस भी करता होगा ? नहीं; मनने एक बार जो गढ़ लिया वह सृष्टिका अखण्ड अंश हो गया। सृष्टि ? पृथ्वीने कैसी मनोरम रूप-योजना पायी है ! इसका आकर्षण आदमीके मनको भी अपनी ओर खींचता है। सिरके ऊपर ये विशाल चँदोवे-सा आकाश, हवासे घिरी यह अद्‌भुत छत, उसमें हिलोरें लेती हुई ये सुनहरी तरंगें ! आदमी भी विधाताकी कैसी अद्‌भुत सृष्टि है ! विचार और चिन्तनके क्षेत्रमें इतना महान् ! क्षमताओंमें इतना असीम ! आकारमें मोहक, गतिमें अपराजित, भाव-व्यंजनामें कुशल, कार्य-कलापमें देवताओं-सा, कल्पनामें साक्षात् विधाता !

बहुत दिनों बाद आज ये डायरी हाथमें ली है। आज······ आज······,काश मैं विषमें बुझी बरछीकी नोकको हृदयके रक्तमें डुबा-डुबाकर आजकी यह डायरी अपने सारे शरीरपर लिख सकता ! धिक्कार है इस संसारको ! कायाके पंजरकी सन्धियाँ खुल क्यों नहीं जातीं ? सारा

मांस गलकर ओसकी बूँदों-सा ढुलक क्यों नहीं जाता ? इतनी तुच्छ निरर्थक और नीरस है यह दुनिया ? यह सम्भव कैसे हुआ ? कहाँ तो मेरे वे पिता जिनके चरणोंमें देवता नमस्कार करें तो धन्य हो जायें, और कहाँ ये धूर्त कलंकी चाचा ! शेरकी माँदमें गीदड़ आ घुसा। मगर मेरी माँको क्या हुआ ? मैं सोचता था अभी तो उसके गालोंपर ढुलककर आये आँसू सूख भी नहीं पाये हैं; वैधव्यके जिन वस्त्रोंको पहनकर वह अपने पतिकी समाधि तक गयी थी उनकी धूल भी अभी नहीं झड़ पायी......और वह अपने देवरसे विवाह रचा बैठी ! बुद्धिहीन जानवर भी इतनी जल्दी वेदनाके दंशको नहीं भूल पाता ! Frailty thy name is woman !

एकबार फिर सामने आ जाओ, हे छाया-मूर्ति ! तुम्हारे भव्य आकार-में मैंने अपने पिताका प्रतिबिम्ब देखा है। तुम प्रेत हो ! पर हो तो मेरे पिता ! मेरा प्रणाम लो। मेरे मनकी दुविधा मिटा दो। एकबार स्पष्ट बता दो। आओ, अपने शरीरके घाव मुझे दिखा दो ताकि जिस नीचने तुम्हारी पावन कायाको अपावन भावनासे क्षत-विक्षत किया है उसके रक्त-से पृथ्वीका कलंक धो डालूँ। संकेतोंमें बड़ी उलझन है, बड़ा तर्क-वितर्क है। एकबार साफ़ बता दो, संशय निर्मूल कर दो ! कर्त्तव्य मुझे बुला रहा है.... शंकाकी सांकल प्राणोंको जकड़ रही है। To be or not to be, that is the question ! रहूँ या मिटूँ—प्रश्न यही है। मानसिक वेदनामें तिल-तिल मरना अच्छा है, या एक झटकेमें प्राणोंका उच्छेद करके सारी शंकाओं और समस्याओंको सदाके लिए सुला देना अच्छा है ?

* * *

हैमलेट ! हैमलेट ! सुन, इस आवाजको पहचान ! उठ ! उठ ! जो करना है कर डाल। विचारोंकी नाली-पगडंडियोंमें मत उतर। साध्यके शिखरोंपर उड़ान भर। समय बीता जा रहा है। मेरी आत्मा कलप रही है, मेरी परछाइयाँ तड़प रही हैं और तू अकर्मण्यताकी चादरमें मुँह लपेटे

दिवा-स्वप्न देख रहा है। इस आकृतिको पहचान ! ..... इस आवाज़को सुन ! बेटा.....,मेरे बेटे !

*   *   *

मेरे प्राणोंकी मधुर वेदना, प्यारी ऑफ़िलिया !

शताब्दियों बाद जीवनके खण्डहरमें आज तुमने फिर एक नन्हा-सा दीपक जला दिया और बियाबानमें बन्सीकी धुन फूँक दी। आज प्राणों की भग्न समाधिपर प्यारकी दूब उग आयी है, जैसे मेरे सूखे ठण्ढे होठोंको तुम्हारी गरम उँगलीने चूम लिया हो।

तुमने आज मुझे पत्र लिखा है। खोलनेसे पहले मैंने इसे कई बार चूमा है। प्यार इतना अधीर क्यों होता है? तो क्या तुम्हारे पिताने तुम्हें पत्र लिखनेकी आज्ञा दे दी है? तो क्या वह मुझे अब पागल नहीं समझते? या समझते हैं, इसीलिए मैं प्यारके खेलके लिए निरापद मान लिया गया हूँ? तुम तो अभी कुमारी ही हो न? (कितनी जल्दी मैं कटु हो जाता हूँ! तुम कुछ ख़्याल न करना, प्राण!—आज मुझे सब कुछ कह लेने दो।)

तुम्हारे अभियोगोंका जवाब दूँ—अपनी सफ़ाईमें कुछ कहूँ—उससे पहले मैं मर ही क्यों न जाऊँ? हैमलेटको उस वक़्त भी दुनियाने नहीं समझा, तुमने भी नहीं समझा था। पर जिस दिन मैंने तुम्हें क़ब्रमेंसे निकालकर छातीसे लगाया था (शेक्सपीयरने यह बात नहीं लिखी, क्या इसीलिए ग़लत हो जायेगी?) उसी दिन तुम्हारी मुँदरी अखण्ड सुहागकी आभासे उज्ज्वल हो गयी थी।

तुम्हारी क़ब्रपर माथा टेकते ही मेरे मुँहसे निकल पड़ा था, जैसे बाइबिलकी वाणी हो :

"ऑफ़िलियाको प्यार मैंने किया है! अगर उसके चालीस हज़ार भाई हों और वे सब अपना प्यार इकट्ठा करके मेरे प्यारके मुक़ाबलेमें

रखें तो उन सबका सम्मिलित प्यार मेरे प्यारके सामने हल्का ही उतरेगा।"

यह क्या आज दोहराना होगा ? जो दोहरानेकी बात है, उसे एक बार सुन लो, मेरे प्राणोंकी रानी !

मेरे पूजनीय और पराक्रमी पिताको मेरे नीच चाचाने राजगद्दीके लोभसे मार डाला। मेरी माँको पिताने आँखकी पुतली बनाकर रखा। उसने अपने पतिके शोकमें दो महीने ठहरना भी उचित न समझा और अपने उसी नरपिशाच देवरसे ब्याह रचा डाला। मुझे जब सन्देह हो गया तो चाचाने मुझे मरवा डालनेका कुचक्र रचा। मुझ निराश्रयका नीड़ उस समय तक तुम्हारी आँखोंमें बन चुका था। और था ही कौन दुनियामें जो मुझे प्यार का सहारा देता ?

मैंने अपने प्यारकी दुहाई देकर तुम्हें आकुल पत्र लिखा। तुमने जवाब तक देना ठीक न समझा। मुझसे किनारा ही कर बैठीं तुम। इतना ही नहीं, अनजाने तुम उसी चाचाके षड्यन्त्रमें शामिल हो गयीं और यह भेद खोजनेमें सहायक बन गयीं कि मैं तुम्हारे प्रेममें पागल-सा हो गया हूँ या अपने पिताकी मृत्युके कारण।

इस उद्देश्यसे तुम बाइबिल पढ़नेका अभिनय करती हुई मेरे सामने आयीं। तुम्हें देखकर मानो मेरा संसार अरराकर ढह गया, मेरे प्राण असह्य वेदनासे चीख उठे। मुझे तुम्हारी आँखोंमें, संसारकी नारी मात्रकी आँखोंमें, अपनी वासनादग्ध कलंकिनी माँका चेहरा दिखाई देने लगा। हाय, जब कोई बेटा अपनी माँके बारेमें यह सोच-सोचकर पागल हो रहा हो, जब जीवनकी कटुता व्यक्तिको अपना अस्तित्व समाप्त कर देनेके लिए धकेले लिये जा रही हो, तब उसका एकमात्र सहारा दर्पणकी तरह टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाय और हर खण्डमें उसे अपनी अभागिनी माँकी काली छाया काँपती नज़र आने लगे........

नहीं, प्यारी ऑफ़िलिया, अब नहीं लिखा जाता। क़ब्रकी मिट्टी नीचे धँसी जा रही है। आओ, मुझे यहाँसे निकालकर अपने आँचलकी छाँवमें ले लो, ऑफ़िलिया ! सदाके लिए लेलो मुझे !..........

तुम्हारा ही तो,

भग्न हृदय,

हैमलेट

● ●

मान्यताएँ और चुनौतियाँ

उस दिन श्री नरेन्द्र शिरोमणिका एक प्रकाशित पत्र पढ़ा।

पत्रके आरम्भमें लेखकने एक मार्मिक बात बड़े आकर्षक ढंगसे कही है :

"हमारे विकासके सबसे बड़े बाधक वे शब्द हैं जिनकी पकड़से समयके तेज बहावमें अर्थ छूट गये हैं और वे ख़ाली कनस्तरोंकी तरह कभी इसके हाथमें और कभी उसके हाथमें शोर करते हैं, चलनेवालोंको दिग्भ्रान्त करते हैं। कभी जब शब्द और अर्थ एक थे तब वे हमारी पूजाके पात्र थे; आज तो वे ऐसे मूर्तिहीन मन्दिर रह गये हैं जहाँ दिनमें जुएबाजोंके अड्डे लगें और रातमें चमगादड़ोंकी फटफटाहट गूँजती रहे। मानवता,

संस्कृति और नैतिकता ऐसे ही सुन्दर लगनेवाले शब्दोंकी सबसे अगली पंक्तिमें हैं।"

इसका सीधा-सादा अर्थ यह होना चाहिए कि लेखक (१) 'विकास' में विश्वास करता है; (२) वह मानता है कि मानवता, संस्कृति, नैतिकता यदि अपने उसी प्राचीन अर्थमें समझे जायँ जिसमें वह हमारे हृदयके पास थे तो आज भी हमारी पूजाके पात्र हैं, और (३) यदि इन शब्दोंका वही अर्थ नहीं माना जाता तो ये शब्द निरर्थक हो जाते हैं और हमारे विकासमें बाधक बन जाते हैं।

लेकिन लेखक अपने इस अभिप्रायपर कहीं भी टिकता नजर नहीं आता। वास्तवमें यह अभिप्राय उसका है ही नहीं। क्योंकि अनेक तर्काभासों और असंगतियोंके सहारे वह जिन स्थापनाओंपर पहुँचता है वे प्रारम्भकी मार्मिक उक्तिको झुठलाती हैं, बिल्कुल चौंका देनेवाली और खतरनाक हैं। उसकी नीचे लिखी स्थापनाओंको देखिए :

"क्या रखा है इन सब धर्मोंमें, शास्त्रोंमें, आदर्शोंमें, स्वार्थ-परमार्थके भेदोंमें" ?...

"क्यों न लें हम जीवनको उसके सीधे-सादे सहज-स्वाभाविक, यथार्थ-वास्तविक रूपमें कि हाड़-मांसका मैं, आप, दुनियामें दुनियाकी तरह रहें और भरसक सुख-सुविधाका उपभोग करें।"

"अन्तर्मानस या 'इनरमैन' कहकर मैं मनुष्यको खण्डित नहीं करूँगा—निर्भय होकर मेरा उद्देश्य आहार-निद्रा-भय-मैथुनके आधार मनुष्यसे है...।"

यह सब कौन-से युगकी, कहाँकी, भाषा है जिसने लेखकको इस प्रकार मोह लिया है और जिसके शब्द चमड़ीपर ही चिपके हैं, हृदय और प्राण उनमें हैं ही नहीं ?

लेखककी दृष्टिमें मानवता, संस्कृति और नैतिकता इसलिए निरर्थक हैं कि इन शब्दोंका प्रयोग करनेवाले ऐसे भी आदमी दुनियामें हैं जो अपने

व्यवहारमें इन शब्दोंके शत्रु हैं। यदि जीवनके आदर्श और मनुष्य की नैतिक भावनाएँ उसके जीवनमें पूरी नहीं उतरतीं तो क्या मानव-विकासकी ये उपलब्धियाँ झूठी और निरर्थक हो जायेंगी ? एक पादरी अपने प्रवचनमें लोगोंसे प्रेरणा कर रहा था कि वे ईसाके बताये हुए धार्मिक मार्गपर चलें। श्रोताओंमें एक बिगड़े-दिल तार्किक झल्ला उठे। बोले, "क्या फ़ायदा ईसा-मसीहके धर्मसे ? आज दो हज़ार सालसे ईसाइयत का प्रचार हो रहा है पर आदमी अभी भी ईसाके धर्मको अनुपयोगी बनाये हुए है।" पादरीने शान्त भावसे उत्तर दिया : "आप ठीक कहते हो, भाई ! दुनियामें २० लाख सालसे पानी है, पर क्या फ़ायदा ? आपकी गर्दनने अभी भी पानीको अनुपयोगी बनाया हुआ है, ढेरों मैल चढ़ा रखा है आपने !"

क्या 'मानवता' इसलिए निरर्थक है कि ऐटम बमके उपयोगके समर्थनवाले किसी बेशर्मने ढिठाईसे या शर्मदारने लज्जाकी ग्लानिसे छुटकारा पानेके लिए यह कह दिया कि ऐटम बमका उपयोग मानवताकी रक्षाके लिए हुआ है और होना चाहिए ? दुनिया जिन्हें मानती है, जो मानवताके जाने-माने समर्थक हैं, उनमेंसे किसने यह कहा ? क्या गाँधीने, जवाहरलालने, आइन्स्टाइनने, बर्ट्रेंड रसेलने ? क्या स्वयं रूजवेल्टने ? मानवताके नामपर शोषितोंकी रक्षाका प्रयत्न बुद्धने, महावीरने, ईसाने, गाँधीने किया वह क्या उसी तरह ग़लत है जिस तरह शोषकोंका 'मानवता' का दम्भ, गोरोंका कालोंके बोझ ढोने (Whiteman's Burden) का स्वाँग ? शेक्सपीयरने कहा है कि 'शैतान भी शास्त्रका हवाला देता है।' तो क्या शैतानकी नीयत भी उतनी ही सच्ची जितनी शास्त्रकी वाणी ? क्या संसारकी प्रगति, संस्कृति और विकास इसी नीतिके व्यवहारसे हुआ है कि जीव जीवका भक्षण है ? कहाँ है आदिम युगका आदमखोर आदमी ? आदमी-आदमीकी विभाजक छोटी सीमाएँ, छोटे क़बीले, अनगिनत छोटी-छोटी जातियोंके आये-दिनके हत्याकाण्ड, अपहरण और आगके खेल किस प्रेरणासे कम होते गये और होते जा रहे हैं ? राष्ट्रोंकी समर्थतर इकाइयाँ-

के सामने आदर्शके रूपमें क्या प्रेरणा है ? क्यों थी लीग आफ़ नेशन्स और क्यों है राष्ट्र-संघ ? बेशक कुछको खाद बनना पड़ता है और कुछ बीज होते हैं, पर किस बीजको गलकर निःस्व नहीं होना पड़ता ताकि फूल खिलें, फल झूमें और फिर अनगिनत बीज गलते जायें और पेड़ पलते जायें ? किस माँकी छातीको स्नेहकी विवशता नहीं सताती कि वह छातीके रक्तमेंसे दूधकी धार उपजाये और लोरियाँ गाती जाये ?

तो, क्या सचमुच संस्कृति 'गोल-माल शब्दोंका गड़बड़-घोटाला है ?' क्या सचमुच आदमीका संस्कार नहीं होता और वह पाशविक वृत्तिसे ऊपर उठकर मनुष्य और मनुष्यकी वैयक्तिक सुख-सुविधाओंसे ऊपर उठकर 'मानवता' का समर्थक नहीं बनता ? कौन है लेखकका उपास्य प्रमाण जो कहता है सारी संस्कृति मुग़ल पीरियडसे पहले ही हो चुकी ? क्या कालिदासने मुग़ल पीरियडसे पहले बादमें आनेवालोंकी सांस्कृतिक देनके सम्बन्धमें नहीं लिखा—**'पुराणमित्येव न साधु सर्वं'** ? 'प्राचीन है' केवल इसी आधारपर सब कुछ भला नहीं हो जाता और न ही कोई चीज़ 'नयी है' इसलिए कुत्सित हो जाती ।

लेखकका सबसे अधिक रोष 'सत्य'पर उतरा है । उसकी धारणा है कि "सबसे अधिक खोखला शब्द है सत्य ।" फिर भी सत्यकी व्याख्या उसने की है : "क्यों न लें हम सत्य करके उसे जो हमें दीखता है, हमारी समझमें बैठता है, हमारी काया, हमारे मनको सुखकी अनुभूति देता है ?" इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ हमारी दृष्टिसे परे घटित हो रहा है, बाह्य-संसारमें और आदमी-आदमीके मनमें, वह सब झूठ है । और यदि आँखोंसे दिखाई देनेवाली चीज़ ही सच है तो क्या वह दूरबीनसे कुछ अतिरिक्त देखकर हमें जो बताता है, वह झूठ है ? खण्ड सत्य और अखण्ड सत्यपर इतनी झल्लाहट क्यों ? यदि हम बचपनमें पढ़ी कहानी भूले नहीं हैं तो हाथीकी सूँड भी सत्य है, पाँव भी सत्य है और कान भी सत्य हैं । प्रत्येक अन्धा जब यह कहता है कि हाथी हाथ-सा है, या खम्भे-सा है

या सूप-सा है तो वह सत्य कहता है; पर यह खण्ड सत्य है। अखण्ड सत्य तो समूचा हाथी ही है जो अन्धेके लिए अगोचर है। जब किसी वस्तुकी पर्याय बदलती है, उसके पार्थिव गुण बदलते हैं, तो वस्तुका व्यावहारिक सत्य भी बदल जाता है जो वस्तुका सापेक्ष्य सत्य है। वस्तुका मूल्य द्रव्य जो प्रत्येक बदलते रूपमें व्याप्त है वह उसका ध्रुव सत्य या निरपेक्ष सत्य है।

सत्यकी अभिव्यक्ति दर्शनमें 'आत्मा'के रूपमें मानी गयी है, उपासनामें 'ईश्वर'के रूपमें और आचरणमें 'धर्म'के रूपमें। आचरणका सत्य ही धर्म है, नैतिकता है—वह आचरण जो लोक-मंगलकारी है, जहाँ व्यक्ति विवेक-बुद्धि द्वारा समष्टिके प्रति अपनेको समर्पित करता है। मानव-विकासकी यही चरम उपलब्धि है। लेखकने गाँधी और गोडसेके सत्यको एक ही तुलापर तोला है और उसके अभिप्रायकी ध्वनि है कि दोनोंका अपना सत्य बराबर है। गाँधीजी विरोधियोंको अहिंसासे, प्रेमसे जीतते थे, सो वह भी सत्य और गोडसेने गाँधीजीको गोलीसे 'जीता' सो वह भी सत्य! क्या 'सत्यमेव जयते'का ठीक अर्थ यह नहीं है कि गाँधीजीका जीवन समाप्त करनेमें यद्यपि गोडसेको सफलता मिली किन्तु गाँधीवाद—जो गाँधीका सत्य था—उसे वह पराजित न कर पाया और इस तरह सत्यकी विजय हुई। रामकी विजय तो सत्यकी प्रत्यक्ष विजय है ही। राम-रावण और गाँधी-गोडसेके सत्यको समानताकी तुलापर तोलनेवाले तर्कको क्या कहा जाये! '**हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्**—सत्यका मुँह सोनेके पात्रसे ढँका हुआ है। जिसके पास सोना है वह सत्यका मुँह इस हिरण्यमय पात्रसे बन्द करे या न करे, जिसके पास चकाचौंध करनेवाला हिरण्यमय छल है, वह सत्यका मुँह अवश्य ढँकता है। इसीलिए सत्यके पोषक तत्त्व (पूषन्) से ऋषिने प्रार्थना की थी कि वह इस ढक्कनको हटा दे ताकि सत्य-धर्मका दर्शन हो सके—'**तत्त्वं पूषन् अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये**!'

लेखमें यदि कोई स्वस्थ स्थापना है तो केवल एक ही कि मानवता, नैतिकता, संस्कृति, समन्वय सबका केन्द्र-बिन्दु है मनुष्य। लेकिन बुद्धिके विकटतम विभ्रमने लेखकको इसी स्थलपर ठगा है। ऋषिने जिस मनुष्यको सामूहिक 'मानवता'के रूपमें लिया है—'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'—उसे लेखकने एक ही मनुष्यकी निजी वैयक्तिकताके अर्थमें ले लिया है। मनुष्यका निजी व्यक्तित्व भी वह नहीं लिया जो पशुओंसे भिन्न है—जो सोचता है, समझता है, विवेक-बुद्धिसे काम लेता है, जो सत्यके आधार-पर समन्वय करता है, जो सौन्दर्यको परखता है और सौन्दर्यका निर्माण करता है—बल्कि मनुष्यका वह व्यक्तित्व जो पशुओंके समान केवल आहार-निद्रा-मैथुन रत है !

● ●

आगामी कलके सत्य

'आगामी कल' का अर्थ क्या ? वह जो बीस-पचीस साल बादका है, या वह जो १००-२०० साल बाद आयेगा ? यह प्रश्न इसलिए जरूरी है कि इस जमानेमें नये-नये आविष्कार इतनी तेज़ीसे और इतने व्यापक महत्त्वके हो रहे हैं कि आगामी ५० सालके नक़शेका ठीक-ठीक अन्दाज़ लगाना मुश्किल हो रहा है, सौ-दोसौ साल बादकी बात तो मानो अकल्पनीय है।

मान लीजिए वैज्ञानिक इस बातमें सफल हो जाते हैं कि अपनी प्रयोगशालामें ऐसे प्राण और मनका निर्माण कर लें जिसे इच्छानुसार दीर्घ काल तक जीवित रखा जा सकता है, तो फिर क्या यह असम्भव है कि जो रॉबॅट, अर्थात् यन्त्र-मानव, आज घूम-फिरकर तमाशा दिखाता है या जो

मशीन लाखों-करोड़ोंका पेचदार हिसाब मिनटोंमें कर लेती है, वे जीते-जागते अतिमानव (सुपरमैन) हो जायें। फिर वैज्ञानिकमें और ब्रह्मामें क्या अन्तर रहेगा? और तब हमारी दुनियाका क्या नक़्शा होगा? जब हम चन्द्रलोककी यात्रा करेंगे, हमारी हर कल्पना साकार होकर सामने आ जाया करेगी, तब हमारे जीवनके सत्य क्या होंगे, हमारी नैतिक मान्यताएँ क्या होंगी?

एक और भी पहलू है। सौ-दोसौ साल बादकी बात छोड़ें, अभी तत्काल—इन अगले ५-७ वर्षोंमें ही—किसी मनचले उड़ाकूने मौजमें आकर या हड़बड़ाकर या किसी सिरफिरे तानाशाहका रौबदार आदेश सुन-कर कहीं कोई सशक्त अणुबम छोड़ दिया तो फिर हम और हमारी सारी दुनिया अपनी ही आँखों प्रलयका खेल देखते-देखते क्षणोंमें समाप्त हो जायेगी, क्योंकि हर अणुबमके जवाबमें एक दूसरा अणुबम छूटेगा। तब हमारे सारे सत्य और हमारी सारी नैतिक मान्यताओंका क्या होगा?

स्पष्ट है कि हमारे आगामी कलके सत्योंका रूप इस बातपर आश्रित है कि हमारे दोनों हाथोंमें जो दो घट हैं—दायें हाथमें अमृत और निर्माण-का तथा बायें हाथमें विष और विनाशका—उनमेंसे हम अपनी जीवनलता किस घटसे सींचते हैं।

आगामी कलका—चाहे आगामी कल ठीक 'कल', 'टुमौरो', के अर्थमें लें, चाहे १०,२०,५०,१०० सालके अर्थमें—सबसे बड़ा सत्य होगा जीवित रहनेकी इच्छा, मौतका डर, निर्भयताकी खोज! यह आदमीका कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि जीवनकी प्रारम्भिक अवस्थाकी मूल चाह और खोज आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, यद्यपि हमारे ज्ञान-विज्ञानके विकासकी अटूट परम्पराका कोई अन्त नहीं! आजका आदमी आकस्मिक मौतके प्रति उतना ही सजग और आकुल है जितना शताब्दियों पहलेका चिन्तक, जिसने कहा था:

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

मौतने आकर चोटी पकड़ ली है, यह मानकर जल्दी धर्माचरण कर लो। और कबीरने पलमें प्रलयकी जो बात कही थी वह भी हमारे लिए आज अधिक सार्थक है : **'काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब, पलमें परलै होयगी, फेर करेगा कब्ब।'**

आगामी कलकी नीतिका केन्द्रबिन्दु यह होगा कि संसारमें युद्ध न हो, शान्ति रहे। कहा जा सकता है कि यह कोई नयी नीति नहीं। नयी यह इस अर्थमें है कि पहले जमानेमें हम किन्हीं अवस्थाओंमें युद्धको आवश्यक मानते थे : अपनी जाति, अपने धर्म, अपने देश और अपने राष्ट्रके नामपर जो युद्ध करते थे उसे हम धर्म-युद्ध मान लेते थे। आज संसारमें धर्म-युद्ध जैसी चीज असम्भव हो गयी है। आज न फ़ौजी और न नागरिकका भेद रहा, न युद्धकी अगली पंक्ति और पिछली पंक्तिका भेद रहा, न ही विजेता और पराजितका भेद रहा। क्योंकि आगे जो महायुद्ध होगा उसमें शत्रु-मित्र, अपना-पराया, गाँव-नगर, तू-मैं-वह : सब ही के स्वाहा हो जानेकी सम्भावना है। एक-एक दिन जो गुज़र रहा है, आनेवाले युद्धको अधिकाधिक प्रलयंकर बना रहा है। कोई राष्ट्र विजेता हुआ भी तो वह मौतके सन्नाटेका स्वामी होगा।

आज एक और कठिनाई यह हुई है कि युद्धका आरम्भ तो कोई भी एक राष्ट्र कर सकता है क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं, कोई सार्वभौम सत्ता अचूक हस्तक्षेप नहीं कर सकती, पर युद्ध न हो इसकी गारण्टी सब राष्ट्र मिलकर ही कर सकते हैं। जीनेकी इच्छा और आत्म-रक्षाकी भावनाका ही सबसे बड़ा तक़ाज़ा है जो राष्ट्रोंको लड़नेसे रोक सकता है। किन्तु मात्र इतना पर्याप्त नहीं। शान्ति-नीति केवल नकारात्मक आधारपर नहीं चलायी जा सकती। आगामी कलकी नैतिकताके लिए आवश्यक होगा कि वह 'सह-अस्तित्व'के सिद्धान्तको मनुष्यके जीवनका अंग बनाये। अब न आर्य और म्लेच्छका भेद चलेगा, न गोरे और कालेका, न ही अमीर-ग़रीबका।

जहाँ तक राजनीतिक सिद्धान्तोंका प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि व्यक्तिकी स्वतन्त्रता राष्ट्रीय नीतिसे बाधित होगी और प्रत्येक राष्ट्रकी स्वतन्त्रता प्रायः एक अन्तर्राष्ट्रीय तन्त्रके अधीन रहेगी। यदि संसारको जीवित रहना है और विज्ञानके आश्चर्यजनक आविष्कारोंको जीवनके लिए उपयोगी होना है तो 'विश्व-राज्य'—वर्ल्ड गवर्नमेण्टके विचारको क्रियात्मक रूप देना ही होगा। संयुक्त राष्ट्र संघको ही इस प्रकारका रूप दिया जायेगा या एशिया-ऐफ्रिकाके जागृत राष्ट्र समय पाकर इस प्रकारके किसी नये तन्त्रकी स्थापनामें सक्रिय भाग लेंगे, यह बात और है। युद्धके हथियारों, ऐटमबमों, हाइड्रोजन बमों, दूरमार रौकेटों और प्रक्षेपास्त्रोंके निर्माण, संचय और उपयोगकी रोक-थाम अन्तर्राष्ट्रीय संगठनके सुपुर्द किये बगैर संसार चैनकी साँस नहीं ले सकेगा। और यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सदिच्छा, सहयोग व सह-अस्तित्वके आधारपर ही खड़ा रह सकेगा; खड़ा रखना पड़ेगा क्योंकि विकल्पमें मौत है, और मौत कोई चाहेगा नहीं।

मान लें कि इस प्रकारका संगठन बन जायेगा, युद्धका डर हट जायेगा या बेहद कम हो जायेगा और सह-अस्तित्वकी नीतिको सारे राष्ट्र अमलमें ले आयेंगे, तब क्या आगामी कालकी नैतिक मान्यताओंके लिए इतना ही पर्याप्त होगा? नहीं।

आगामी कलके मानव समाजके मूल्योंमें एक प्रमुख मूल्य यह होगा कि जीवनके सुख और आनन्दको न तो कोई व्यक्ति अकेला भोग सकेगा, न कोई राष्ट्र। जीवनके सुख पूर्वजन्मके पुण्योंसे मिलते हैं और दुःख पूर्व जन्मके पाप कर्मोंसे, इसलिए दूसरेके सुखोंसे हम ईर्ष्या न करें और अपने दुःखपर सन्तोष करके बैठ रहें, यह मान्यता जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत रह भी गयी है, जल्दी ही समाप्त हो जायेगी। पहले अपनेसे दुःखको भुलानेके बड़े तरीके थे, बड़े नुस्खे थे। 'सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्' या 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरी छोड़ न होई हौं रानी।' जैसे-जैसे

मनोहर और लुभावने वाक्य थे ! और सचमुच उस पुराने सामाजिक सन्दर्भमें ये वाक्य झूठे भी नहीं थे, आदमीकी निरीहताका दंश दूर करते थे। पर आज जन-जागरणके युगमें यह कहना कठिन है कि ये धारणाएँ नैतिकताकी श्रेणीमें आती हैं या अनैतिकताकी। जो लोग व्यक्तियोंके सुख-दुःखको पूर्वजन्मके पुण्य-पापका फल मानते हैं, वे भी आज शायद यह न मानें कि पश्चिमके राष्ट्रोंने बड़ा पुण्य कमाया है अतः सुखी हैं, और हम पूर्वके राष्ट्र पुराने पापी हैं, इसलिए दुःखी हैं। बौद्धिकताके इस युगमें भाग्य, प्रारब्ध, पूर्व जन्मके पुण्य-पाप, मजबूरीका संयम-सन्तोष आदि सब विचार और मान्यताएँ समाप्त होनेको हैं। आगामी कलका मनुष्य तो इन सब मुहावरोंको प्राचीन भाषाके कोशमें दाखिल कर देगा।

इस विचारधाराका राष्ट्रोंके जीवनपर जो प्रभाव पड़ेगा वह यह कि अब कोई राष्ट्र न सिर्फ़ अपने आपको हीन या पिछड़ा हुआ मानेगा, बल्कि प्रत्येक समृद्ध राष्ट्रको वह स्वयं या अपने राष्ट्र संघके माध्यमसे चुनौती देगा कि संसारकी सारी समृद्धि, समूची साधन-सामग्रीको सारे राष्ट्रोंके साथ मिल-बाँटकर भोगा जाये। इस माँगके परिणामपर विचार कीजिए। आज दुनियामें लगभग २ अरब ८० करोड़ आदमी हैं जिनमें आधेसे अधिक एशिया और एफ्रिका महाद्वीपोंमें रहते हैं। इन आदमियोंका जीवन-स्तर इतना नीचा है कि यदि सचमुच संसारका धन, साधन-सामग्री और भोग-विलासके वसीले इकट्ठे करके राष्ट्रोंमें जनसंख्याके आधारपर बराबर बाँटने लगें तो अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी आदि सभी देश फटे-हाल हो जायेंगे।

और, समस्या आजकी आबादीको ही सन्तुष्ट करनेकी नहीं है, समस्या इससे कहीं बड़ी है। क्योंकि संसारमें हर मिनिट ५ हज़ार आदमी बढ़ रहे हैं, अर्थात् एक सालमें ४ करोड़ ३८ लाख आदमी। इस हिसाबसे तो बीसवीं शताब्दी समाप्त होते-होते दुनियाकी आबादी दुगुनी हो जायेगी। इन सबके लिए रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन जुटाना

क्या हँसी-खेल है ? निःसन्देह विज्ञान बहुत तरक़्क़ी करेगा, ज़मीनकी पैदावार भी बढ़ेगी, रासायनिक भोजनकी गोलियाँ भी तैयार होंगी, रेत और लकड़ीसे कपड़ा बनेगा, बेहद बड़े-बड़े कारखाने उत्पादनमें जुटेंगे, अणुशक्तिसे मशीनें चलेंगी और हवाई जहाज़ उड़ेंगे, आसमानमें घर बनेंगे, चन्द्रलोकमें राज्य स्थापित होगा—पर इन सब कल्पनाओंके साथ मेल बैठाइए अपने भारतकी पंचवर्षीय योजनाओंका जिनके इरादेकी बुलन्दी इस बातसे ज़ाहिर है कि पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाके समाप्त होनेपर, यानी आजसे १८ साल बाद, सन् १९७६ में एक भारतीयकी औसत आमदनी लगभग ४३ रुपये महीना होगी !

यदि हमारी इस हिसाबसे ही प्रगति होती है तो हम पश्चिमी राष्ट्रोंके जीवन-स्तरकी बराबरी कब कर पायेंगे ? भारतमें हर साल ५०-६० लाख व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ती है । ज़ाहिर है, जब हम आगामी कलकी समस्याओंपर आश्रित सत्योंकी बात करें तो विज्ञानके इन अद्भुत कल्पनातीत चमत्कारोंकी चकाचौंधसे अपनी आँखोंको बचायें ताकि नीचेकी ज़मीन और ऊपरका आस्मान दोनोंको सही अनुपातमें देख सकें। संसारके जीवन-स्तरको उठानेके लिए जो सामूहिक प्रयत्न होगा उसकी पहली शर्त होगी कि बढ़ती हुई आबादीको रोका जाये । कैसे ? गर्भ-निरोध—बर्थ कण्ट्रोल—के साधनों द्वारा । इसके विरोधमें प्राचीन नैतिकताका नारा लगाना बिलकुल बेकार है । ज़मानेका पतन कहिए, आदमीकी गिरावट कहिए, पर ब्रह्मचर्यकी बात चलाना नक्कारख़ानेमें तूती बजाना है । वैज्ञानिक उपायोंसे गर्भ-निरोध करना आगामी कलका निश्चित सत्य है ।

इस सम्बन्धमें बाइबिल और स्मृतियोंका हवाला आज कौन सुनेगा ? समयकी आँधीमें, ज़मानेकी माँगपर कितने ही हवाले उड़ गये । एक दिन बाइबिलके आधारपर पादरीने फ़तवा दिया था : जादूगरनी कहीं भी दिखाई पड़े, सफ़ाया कर दो । और तो और, अभी बहुत दिन नहीं हुए जब लन्दनमें पशुरक्षिणी संस्था खुली और संस्थापकोंने एक बड़े पादरीसे

सहयोग माँगा तो उसने यह कहकर इन्कार कर दिया कि "पशुओंके प्रति आदमियोंका कोई उत्तरदायित्व नहीं, क्योंकि धर्मग्रन्थोंके अनुसार पशुओंमें आत्मा नहीं होती।" अंग्रेजी शिक्षाके प्रारम्भिक दिनोंमें भारतमें एक ग्रामर पढ़ायी जाती थी जिसमें लिखा था—'ए काउ हैज नो सोल।' इस सिद्धान्तपर आश्रित नैतिकताने क्या-क्या अत्याचार नहीं किये होंगे, आज सोचा भी नहीं जा सकता। अब कोई मान्यता केवल इस आधारपर चलनेवाली नहीं कि यह शास्त्रीय सत्य है।

गर्भ-निरोधकी मान्यतासे जुड़ा हुआ प्रश्न है यौन सम्बन्धी मान्यताओंका। आनेवाले युगमें धीरे-धीरे सारी मानव जाति बुद्धिवादियोंकी दृष्टिमें एक होती जायेगी और तब विवाहके नियम मात्र स्त्री-पुरुषोंके प्रेमके नियम रह जायेंगे। प्रत्येक देशके युवक-युवतियाँ प्रत्येक दूसरे देश-में घूमें-फिरेंगी, शिक्षा लेंगी, काम-काज करेंगी और तब मानव-मनकी स्वाभाविक गतिके अनुसार उनमें आपसमें प्रणय होगा, विवाह होगा, मातृत्व और पितृत्वकी सहज भावनाकी माँग होगी कि सन्तानें हों, उन्हें प्यार किया जाये, और घर बसाये जायें। इस तरह आगामी कलकी कौटुम्बिक नीति उसके अन्तर्राष्ट्रीय सदस्योंकी सहज, स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुरूप मूल मानवीय भावनाओंपर आश्रित होगी, शास्त्रीय व्यवस्था या प्राचीन पद्धतिके अनुरूप नहीं। कोई ऐसा बलवान कारण नहीं होगा कि व्यक्ति धराके किसी एक ही खण्डको प्यार किये जाये और उससे चिपटा रहे। उसकी भावनाओंकी क्रियाशीलताके लिए इतना व्यापक क्षेत्र उपलब्ध होगा और गमनागमनके साधन इतने विपुल और तेज होंगे कि व्यक्ति किसी एक राष्ट्रका कहलाता हुआ भी अन्तरंगसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तिका हो जायेगा।

सैक्स सम्बन्धी प्रश्न अभी पूरा नहीं हुआ। विवाहसे पहले या दाम्पत्य जीवनकी स्थितिमें या विधुर जीवनकी अवस्थामें ब्रह्मचर्य, एकपत्नीव्रत, सतीत्व, वफ़ादारी, आत्म-निग्रह आदिकी मान्यताओंका क्या रूप होगा?

उत्तरमें पहली बात तो यह कि मानव जातिके सारे इतिहासमें धर्म-शास्त्रों-की घोषणाओंके बावजूद, नरकके भयके वर्णनोंके बावजूद, यूनानी चेस्टिटी लौक्स (सतीत्वके तालों) के बावजूद भी जब स्त्री-पुरुष स्खलित होते गये—स्खलित भी क्या, लाखों समर्थ पुरुषोंकी सैक्सकी भूखमें करोड़ों स्त्रियाँ अन्नके दाने बनती गयीं तो अब नयी मानवतासे कोई नयी माँग करनेका कारण ? खैर, माँग कोई कर नहीं रहा है, बात समझनेके लिए प्रश्न उठाया गया है ! लगता यह है कि सैक्सके बारेमें आगामी कलके मानवमें कोई ऐसा अवरोध न होगा जो उसकी आत्माको पीड़ा दे या वह उन अनेक कुण्ठाओंका शिकार उस हद तक बने जिनकी तफ़सील मनोवैज्ञानिक ग्रन्थोंमें है और जिनका वर्णन आप इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, कुशवाहाकान्तके उपन्यासोंमें पाते हैं। कुण्ठाएँ नहीं होंगी, प्रेम होगा; जब प्रेम नहीं होगा, तो आजादी होगी; जीवनकी माँग खाली नहीं जायेगी। सन्तान चाहो तो प्राप्त है, न चाहो तो स्वस्थ काम-भोगमें कोई बाधा नहीं; अस्वस्थ काम-भोगका अस्तित्व नहीं, यदि होगा तो मनोवैज्ञानिकोंकी प्रयोगशालामें।

इस सब वर्णनसे तो यही लगेगा कि आगामी जीवनमें जब व्यक्ति-की सुख-सुविधाकी जिम्मेदारी राष्ट्रकी होगी, जब व्यक्ति-व्यक्तिके जीवन-स्तरमें विशेष अन्तर न होगा, जब प्रेम-भावनाको पूरा विकास प्राप्त होगा, तब व्यक्तिको कोई दुःख, कष्ट और कुण्ठाएँ नहीं रहेंगी। हो सकता है स्थिति यही हो, पर यदि जार्ज आर्वेलकी बात सत्य हुई और सन् १९८४ में ही तानाशाह बिगब्रदरकी सरकारने आदमीको मात्र एक पुर्जा मानकर सरकारी मशीनमें फ़िट कर दिया, आदमीके विद्रोहकी भावनाओं या प्रेम-की भावनाओंकी छाया मानसिक विचार पढ़नेवाली मशीनोंके परदेपर पड़ने लगी, और हर क़दमपर जासूस नजर आने लगे तब तो लाख चाहनेपर भी आदमी आत्म-हत्या तक न कर सकेगा ! बड़े-बड़े तानाशाही राष्ट्रोंमें यह खतरा हो सकता है, इसलिए पाठक सावधान हो जायें !

किन्तु व्यक्तिगत रूपसे जार्ज आर्वेलकी बातोंमें मैं विश्वास नहीं करता, क्योंकि ऐसी स्थिति हुई भी तो दीर्घकाल तक नहीं चलेगी। हंगेरी और पोलैण्ड दुनियामें तब भी रहेंगे! सबसे बड़ी बात यह कि भगवान शिव यह तमाशा देखनेको तैयार न होंगे, उनके 'अणु' का तमाशा इससे कहीं ज्यादा शानदार होगा—स्टेज तैयार है।

इस बहसमें खतरा और भीतका विचार चाहे जितनी बार आया हो, उस खतरेके प्रति सदा सावधान रहना और उसका प्रतिकार करना आदमी-के लिए सबसे ज्यादा जरूरी है, पर असलमें जीवनके प्रश्नोंका विचार जीवितोंके लिए होता है, मुर्दोंके लिए नहीं। तब, आगामी कलकी धार्मिक मान्यताओंके सम्बन्धमें भी विचार कर लेना चाहिए। तन्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय विधि-विधानोंमें जकड़ा हुआ आदमी यदि किसी क्षेत्रमें स्वतन्त्र होगा तो अपने दार्शनिक विचारोंमें, अपनी धार्मिक मान्यताओंमें। हो सकता है उसके लिए गिर्जे, मन्दिर और मस्जिदें न रहें, वह उन्हें रखना उचित न समझे; किन्तु जीवनके अनादि-अनन्त प्रश्नोंके प्रति उसकी जिज्ञासा समाप्त न होगी। विश्वका नियमन प्रकृति जिन सिद्धान्तोंके आधारपर करती है उनका उद्गम और विकास कैसे हुआ? सृष्टिका प्रयोजन क्या? मृत्युके बाद क्या? मन क्या पदार्थसे प्रभावित है? इन्द्रियों और बुद्धिकी अनुभूतिके परे जो एक और जगत् है, जिस अतीन्द्रिय-अगोचर सत्ताकी बात साधकोंने की है, उसका रूप-भाव-प्रयोजन क्या है? सत्-चित्-आनन्द, मनोमय-प्राणमय-अन्नमय लोक और अतिमानसकी अरविन्दीय कल्पनाएँ कहाँ तक यथार्थ हैं? कितने ही प्रश्न हैं जो पदार्थ-विज्ञानकी परिधिके बाहरके हैं। जबतक वे विज्ञानकी प्रयोगशालामें आकर हल नहीं हो जाते तबतक दर्शन समाप्त नहीं होगा, तबतक संसारसे एक प्रकारकी धार्मिक श्रद्धाको मानव-मन आधार बनाये रहेगा, तबतक वह एक सर्वोपरि सत्ताके प्रति अपने आपको समर्पित करता ही रहेगा!

व्यावहारिक जीवनका धर्म होगा : दूसरोंके दृष्टिकोणका आदर, दूसरों-

के वैयक्तिक सुख-दुःखमें सहानुभूति, दूसरोंके लिए अपने अधिकार और सुखका उत्सर्ग! लम्बा जीवन बूढ़ोंको खलेगा, तब बालकों और युवक-युवतियोंका कर्तव्य होगा कि वे उनके पास घड़ी दो घड़ी बैठकर उनकी बात सुनें, अपनी कहें और जीवनको दूभर न होने दें। व्यक्तिका व्यक्तिके प्रति आकर्षण, अपने सुख-दुःखमें दूसरोंका सहयोग, प्रेम और आदरकी चाह। ये व्यक्तिकी आवश्यकताएं होंगी और इन्हें पूरा करना व्यक्तिका कर्त्तव्य! मूलमें आदमी जो है, वही रहेगा। मानव मात्रके व्यक्तित्वका सन्तुलित विकास जीवनका लक्ष्य होगा। इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिए जो विधि-निषेध आवश्यक होंगे, उन्हें आदमी समझदारीसे अपनायेगा, वे ही उसकी नैतिक मान्यताएं होंगी। उसे न स्वर्गका लोभ होगा, न नरकका भय। तदिदं ब्रह्म, स्वमेव ब्रवीमि—न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्!

● ●

प्रणयका भविष्य

आतंकित पाठकोंके सामने प्रारम्भमें ही एक बात स्पष्ट कर दूँ। मैं यह विश्वास नहीं करता, जैसा कि ऑरवेलके उपन्यास '१९८४'में या एल्डुस हक्सलेके उपन्यास 'पशु और मानव'में चित्रित है कि भविष्यमें प्रणयके ऊपर इतने कड़े प्रतिबन्ध लगने जा रहे हैं, या प्रणय-व्यापार किसी तानाशाहकी पदार्थ-भेदी दृष्टिकी ऐसी कड़ी निगरानीमें नजरबन्द होने जा रहा है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरेके प्यारके दो बोलोंके लिए तरस-तरस जायेंगे और प्रणयकी हर अभिव्यक्तिपर सरकारी 'परमिट' होगा !

एक अन्य प्रकारकी मान्यता भी पत्रों और पुस्तकोंमें व्यक्त की जाती है—यह, कि भविष्यमें प्रणयका संवेग-संवेदन अनावश्यक हो जायेगा या

इतना अधिक स्वेच्छा-गत नियन्त्रित कि व्यक्ति जब जिस प्रकारके प्रणयका आह्वान या अवरोध चाहेगा, कर लेगा। इस कल्पनाके इन्जैक्शनवाले अंशमें सत्य हो सकता है अर्थात् यह सम्भावना है कि व्यक्ति प्रणय ही नहीं, अन्य संवेगोंको भी सूचिकाकी नोकसे नियन्त्रित कर ले, (जैसा कि आज भी डाक्टर और मनोवैज्ञानिक-चिकित्सक आदमीको संज्ञा-शून्य कर सकते हैं, रुला सकते हैं या हँसा सकते हैं), किन्तु यह मानना कि प्रेम-प्रणयकी भावना नितान्त अनावश्यक हो जायेगी, मेरी समझमें नहीं आता। यों साधु-सन्यासी और संयमी लोग आज भी ब्रह्मचर्यकी साधना द्वारा प्रणय-भावनाको अनावश्यक बना देते हैं। अभ्यास करते-करते अनेक व्यक्ति, विशेषकर स्त्रियाँ, यौनाकर्षणसे सम्बन्धित प्रणयका उच्छेद कर देती हैं। किन्तु इन अवस्थाओंमें भी बहुधा हृदयका रस सूखता नहीं, उसकी धारा बदल जाती है। कोई कीर्तन-भजन करने लगती हैं, कोई बाह्याचार और खान-पानकी शुद्धता-स्वच्छताकी ओर अपनी भाव-धारा उन्मुख कर देती हैं। किन्तु ये सब अपवादकी स्थितियाँ हैं। हम बात कर रहे हैं सर्व-साधारणके दृष्टिकोणसे।

मैं मानता हूँ कि जब-तक मनुष्यपर एटम बमकी क्रूर दृष्टि नहीं पड़ती और उसका अस्तित्व इस धरापर चालू है, वह प्रणय-भावनासे वंचित नहीं होगा।

संसारमें जैसे दूसरी-दूसरी बातोंमें परिवर्तन हुए हैं, और जैसे सौ-दो सौ वर्ष पहलेका रहन-सहन, आचार-विचार आज उसी रूपमें प्रचलित नहीं, उसी तरह प्रेम-प्रणयकी अभिव्यक्तिके तरीकों और मान्यताओंमें भी अन्तर आया है। जीवनकी यह प्रक्रिया आगे भी जारी रहेगी, अतः उसी परिवेशमें ही प्रणयके भविष्यको आँकना उचित होगा।

भविष्यके सम्बन्धमें सबसे पहली और सबसे प्रमुख कल्पना जो मनमें उदित होती है, वह है कि प्रणयके मामलेमें मानव-समाज अधिकाधिक स्वतन्त्रताका पक्षपाती होगा। रौकेटोंमें घूमनेवाले युवक-युवतियाँ, जो एक

ही दिनमें चार अलग-अलग महाद्वीपोंमें पहुँचकर वहाँके युवक-युवतियोंके साथ कहीं ब्रेक-फास्ट, कहीं लञ्च और कहीं डिनर लेंगे, वे क्या अब प्रणयके सम्बन्धमें देश और समाजका बन्धन मानेंगे ? यह ठीक है कि भारत जैसे देशोंमें आज भी शादी-विवाहके मामलेमें जात-पाँतका बन्धन चलता है, किन्तु यह भी ठीक है कि शहरोंमें रहनेवाले और युनिवर्सिटियोंकी ऊँची क्लासोंमें सहशिक्षा पानेवाले युवक-युवतियोंके अधिकांश विवाह आज जात-पाँतसे बाहर होते हैं, यहाँ तक कि प्रायः प्रादेशिक बन्धन भी नहीं चलते। सीधा-सा नियम है कि तरुणाईके सम्पर्क प्रेममें परिणत होते हैं और ये सम्पर्क जितने विस्तृत और व्यापक होंगे, प्रणयकी परिधि उसी हिसाबसे फैलती चली जायेगी। हम हर रोज देख रहे हैं कि शहरोंमें केन्द्रित उद्योग-धन्धे व्यक्तियोंको गवईं-गाँवसे उखाड़कर अपनी ओर खींचते हैं, कुटुम्बकी इकाइयोंका विघटन होता है, व्यक्ति भावनाओंमें स्वतन्त्र होता चला जा रहा है, बुजुर्गोंका अंकुश अमान्य होता जाता है, और दूर-दूरके व्यक्ति एक जगह आकर सम्पर्कगत, पड़ोसगत नयी बिरादरी बना रहे हैं। सदाका अविजित कामदेव अपना पुष्प-धनु खींचकर अचूक शर-सन्धान करनेसे बाज नहीं आता ! परिणाम यह होता है कि प्रणयका अर्जुन नित नवीन स्वयंबर-भूमियोंमें विजातीय पांचालियोंका वरण कर कामके केतु फहराता चला जाता है ! सोचिए तो सही जिस क्रान्तिको मात्र 'औद्योगिक' कहा जाता है उसकी प्रतिक्रियाने प्रणय-लोकको किस प्रकार आमूल-चूल हिला दिया, और इन प्रतिक्रियाओंकी परम्परा अभी और कितने नये गुल खिलानेवाली है !

ज़माना था जब विवाहकी परिणति प्रणयमें हुआ करती थी; आज प्रणयकी परिणति विवाह है, फिर भी जरूरी नहीं कि प्रणयी यथार्थ रूपसे 'भर्ता' या 'पति' बने ही बने, क्योंकि शिक्षित नारी या 'वर्किंग गर्ल' अपना भरण-पोषण आप करती है, अपनी रक्षाका दायित्व अपने हाथमें लेती है।

प्रणय-लोककी एक बहुत बड़ी क्रान्ति जो प्रणयके भविष्यको सर्वाधिक प्रभावित करेगी, नारीकी यह नयी सामर्थ्य है कि वह चाहे तो 'जाया' बने, चाहे तो न बने—अर्थात् सन्तानको जन्म देना न देना, उसके अपने हाथमें है। इस एक बातने नारीको सदा-सर्वदाके लिए शक्तिशाली बना दिया है और रोमांसको नये रंगों, नये रूपोंमें प्रस्तुत कर दिया है। भले ही आज संक्रान्तिके इन बदलते क्षणोंमें इस क्रान्तिकारी घटनाको 'अनैतिक परिणामोंकी रंग-स्थली माना जाये, किन्तु प्रणयकी आत्माकी यथार्थ परि-शुद्धि यहींसे प्रारम्भ होगी; सहज, स्वस्थ, समर्थ और वास्तविक प्रणयकी रस धारा इसी स्रोतसे प्रवाहित होगी। जब-तक नारी आहार-वस्त्रके लिए पुरुषपर आश्रित रही, या काम-सम्पर्कका उजागर भार उसे ही वहन करना पड़ा तब-तक उसने भी अपनी आत्म-तुष्टिके लिए पुरुषों द्वारा प्रणीत प्रेम-दर्शनको, पातिव्रत्यके पुनीत बन्धन को, जीवनका सर्वोपरि धर्म समझा, किन्तु अब जब वह आत्म-निर्भर हो गई, जब विज्ञानके साधारण-से चमत्कारने उसे सन्तान-निग्रहकी सामर्थ्य दे दी, तो वह 'धर्म'के स्थानपर जीव-विज्ञान, मनो-विज्ञान और विचार-स्वातन्त्र्यकी बात करने लगी। अब वह जान गई कि काम-संवेग जीवनकी सहज प्रवृत्ति है; उसका स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण सामाजिक व्यवस्थाके लिए उपादेय है, किन्तु उसपर अनि [illegible] को जन्म देता है और [illegible]। [illegible]रीरके अवयवोंकी गठन-का और संवेगोंकी प्रक्रियाका ज्ञान तथा प्राण-बीजोंको स्वेच्छापूर्वक निय-न्त्रित रख सकनेकी क्षमता नारीको निर्भय बनायेगी और प्रणय-व्यापारका परिचालन समानताके स्तरसे चलेगा। लक्षण नजर आ रहे हैं कि कलकी नारी [illegible] आलम्बनोंको उपहासपूर्ण विनोदके साथ पढ़ेगी या [illegible] रंगीन [illegible]। दूसरी ओर यह भी बात सच है कि [illegible] प्रणय वैयक्तिक सम्बन्धोंकी दृष्टिसे (वैज्ञानिक नहीं) कोई ऐसा [illegible] न [illegible] पायेगा, जो इतिहासके

लिए नितान्त नया हो या आज भी जिसका रूप धराके अंचलपर कहीं-न-कहीं दृष्टिगोचर न हो रहा हो।

हाँ, कुछ बातें ऐसी हैं, जो लगता है, सदाके लिए अलभ्य हो जायँगी। घूँघटकी ओटके कटाक्ष, वधूकी सलज नीची दृष्टि, सुदीर्घ विरहके पल, प्रेयसीकी एक झलकके लिए प्रणयी द्वारा गली-कूचोंके चक्कर, लम्बे-लम्बे प्रेम-पत्र, संयम और धैर्य द्वारा तैयार की गई प्रणय-लीलाकी भूमिका, बारातियोंके बड़े-बड़े जमघट, समधियोंकी मुठभेड़''''कितनी बातें गिनाऊँ'''' सब धीरे-धीरे समाप्त हो जायेंगी। और भी कितने तमाशे हैं जो समाप्त हो जायेंगे!

उस रोज़ पढ़ा कि बरसों पहले अमरीकाकी एक विदुषी विधवा महिलाने समाचार-पत्रोंमें एक खुली चिट्ठी छपवाई थी। उसका कहना था—"मेरे पतिकी महायुद्धमें मृत्यु हो गई। स्वर्गीय पतिकी स्मृति इतनी सुखद है, और उसके सम्पर्कने तन-मनको इतना भरा-पूरा बना दिया है कि अब मैं विवाह नहीं करना चाहती, न ही करूँगी। किन्तु मेरी इच्छा है कि मैं माता बनूँ। मुझे सन्तान चाहिए। मैं समाजसे व्यवस्था चाहती हूँ कि मुझे हक़ हो कि मैं अब और प्रेम न करूँ, विवाह न करूँ, किन्तु सन्तान पाऊँ। विज्ञानने यदि पशुओंके लिए कृत्रिम गर्भाधान (Artificial insemination) की व्यवस्था की है तो वह नारियोंके लिए उपलब्ध क्यों नहीं? वह नैतिक क्यों नहीं? क़ानून द्वारा उसका समर्थन क्यों नहीं? क्या समाज यही चाहता है कि मैं हमेशा पिल्लों और बिल्लियोंको पाल-पाल कर अपनी मातृत्वकी साध पूरी करूँ?"

मालूम नहीं वहाँके समाजने क्या व्यवस्था की और उस महिलाने बादमें क्या किया, किन्तु आज 'प्रणयका भविष्य'के सम्बन्धमें विचार करते हुए वह घटना याद आ गई। [illegible] है। भविष्यका मानव-समाज प्रणयको इस [illegible] वैज्ञानिक [illegible] देखेगा कि हो सकता है कि दाम्पत्य-प्रणय और मातृत्वकी प्राप्ति दो

अलग-अलग बातें मानी जायें और दोनोंकी पृथक्तामें कोई विरोध न दिखाई दे। जहाँ प्रणय भावनाओंकी परितुष्टि और यौन-आकांक्षाओंकी पूर्तिका स्वस्थ साधन है, वहाँ मातृत्व केवल भावनाओंका परितोष ही नहीं साधता, उत्पन्न होनेवाले भविष्यके नागरिकके प्रति एक दायित्व भी आरोपित करता है। प्रणय किन्हीं भी दो युवक-युवतियोंमें सहज-भावसे उत्पन्न हो सकता है; उसका आवेग इतना सशक्त हो सकता है कि विवाह उसकी परितृप्तिका समुचित साधन हो। वहाँ आदमीका वश नहीं। प्रेम अन्धा है, इसलिए वह नहीं देखता कि प्रणयी-प्रणयिनीके रक्तका फैक्टर सन्तुलित है या नहीं। सन्तुलित नहीं भी होता है; तब जो सन्तान उत्पन्न होती है वह या तो जीवित नहीं रहती, या फिर सारी आयु अनेक व्याधियोंसे ग्रसित रहती है। तब फिर असन्तुलित रक्तवाले दम्पति क्या करें? या तो पत्नीका गर्भाधान ऐसी सन्तान उपजाये जो यदि जीवित रह भी जाये तो संसारमें रोगी होकर और हीन होकर रहे, या फिर पत्नी उस मातृत्वसे वञ्चित रहे जो नारी-जीवनकी महती सफलता है, परितुष्टि है। इलाज क्या? इसीलिए सोचता हूँ कि प्रणयका भविष्य बड़ा रोमांचक है, उसकी यात्रा बड़ी साहसपूर्ण है। इकबालके शब्दोंमें :

महवे-हैरत हूँ कि दुनिया, क्यासे क्या हो जायेगी !

अपना देश और विदेशियोंके सिक्के

● विदेशी मुद्रा या 'फ़ौरेन एक्सचेंज' का अर्थ क्या है ?

विदेशी मुद्राका अर्थ है अपने देशके अतिरिक्त किसी दूसरे देशका सिक्का—जैसे इंग्लैण्डका 'पाउण्ड', अमरीकाका 'डौलर', फ्रांसका 'फ्रैंक', या रूसका 'रूबल'। भारतमें विदेशी मुद्राओंके संग्रहका या लेन-देनका हिसाब रिज़र्व बैंकमें रहता है। दूसरे देशोंमें भी प्रायः केन्द्रीय सरकारी बैंक विदेशी मुद्राओंका हिसाब-किताब रखते हैं और लेन-देन करते हैं।

● विदेशी मुद्राकी आवश्यकता किस लिए होती है ?

यदि आप किसी अन्य देशसे माल खरीदना चाहते हैं तो आपको उस मालकी क़ीमत उस देशके सिक्केमें चुकानी पड़ेगी, अपने यहाँके रुपयेमें

नहीं। मान लीजिए आप अमरीकाके किसी कारखानेसे कैमरा बनानेकी मशीनें खरीदना चाहते हैं, तो आपको उन मशीनोंकी क़ीमत चुकानेके लिए अपने रिजर्व बैंकसे डौलर खरीदने पड़ेंगे क्योंकि अमरीकाका कारखाना डौलर ही लेगा, रुपये नहीं। अगर मशीनोंके दाम २० लाख डौलर हैं तो आप अपने देशके रिजर्व बैंकसे २० लाख डौलर खरीदनेके लिए उसे लगभग १ करोड़ रुपये देंगे (मोटे तौरसे एक डौलरका दाम पाँच रुपये माननेपर)। विदेशी मुद्राकी जरूरत माल खरीदनेके लिए ही नहीं होती, वहाँकी किसी कम्पनीमें साझीदार बननेके लिए, वहाँकी बीमा कम्पनीका चन्दा चुकानेके लिए, जहाजसे माल भेजनेके लिए, शेयरोंका डिविडेण्ड या लाभांश चुकानेके लिए भी पड़ सकती है। आपका रिजर्व बैंक आपको डौलर (सिक्के) नहीं देगा ; वह तो आपको एक चैक या ड्राफ्ट (हुण्डी) देगा जिसे आप अमरीकाके कारखानेको भेज देंगे और वह कारखाना अमरीकामें अपने बैंकको वह हुण्डी देकर अपने खातेमें २० लाख डौलरकी जमा-पूँजी प्राप्त कर लेगा।

● **रिजर्व बैंकके पास डौलर या अन्य विदेशी मुद्रा कहाँसे आती है, कैसे आती है ?**

अपने यहांके रिजर्व बैंकसे आप २० लाख डॉलरकी हुण्डी तभी पा सकेंगे जब रिजर्व बैंकके पास इतने डौलर हों। यदि रिजर्व बैंकके पास इतने डौलर हैं तो यह भी ज़ाहिर है कि ये डौलर अमरीकाके किसी बैंकमें भारतके रिजर्व बैंकका जो खाता है उसीमें जमा हैं। तभी तो अमरीकाका व्यापारी वहीं देशके देशमें वह रकम पा सकता है। जिस देशकी भी विदेशी मुद्रा रिजर्व बैंकके पास है वह मुद्रा प्रायः उसी देशके सरकारी बैंकमें जमा रहती है ताकि हर बार सिक्के भारतसे बाहर भेजने न पड़ें और कागजी जमा-खर्चसे काम चल जाये। किन्तु प्रश्न तो अभी वहीं-का-वहीं रहा, कि रिजर्व बैंकके पास डौलर आये कहाँसे, क्योंकि ये डौलर रिजर्व बैंकके खातेमें अमरीकाके किसी बैंकमें तो जमा नहीं न हों। अमरीकाकी सरकार या

अमरीकाकी कोई व्यापारिक कम्पनी या नागरिक भारतको डौलर तभी देगा जब ऊपर लिखे गये कामोंमें-से किसी कामके लिए उसे डौलरोंके बदलेमें भारतके सिक्केकी जरूरत हो। मान लीजिए अमरीकाके किसी थोक व्यापारी-को भारतवर्षसे एक करोड़ रुपयेका जूट खरीदना है और पाँच लाख रुपये-की चाय (क्योंकि संसारमें ये वस्तुएं हिन्दुस्तानमें ही अच्छी और किफ़ायत-से मिलती हैं) तो वह अमरीकन व्यापारी लगभग २१ लाख डौलर अपने अमरीकाके बैंकमें जमा करा देगा और ये डौलर भारतवर्षके रिज़र्व बैंकके खातेमें अमरीकामें जमा हो जायेंगे। वहाँसे सूचना मिलनेपर रिज़र्व बैंक अपने देशके व्यापारीको जिसने जूट और चाय बेचे थे एक करोड़ पाँचलाख रुपये हिन्दुस्तानमें दे देगा।

● व्यापार-सन्तुलन या 'बैलेंस ऑफ़ ट्रेड' से क्या अभिप्राय है ?

ऊपरके उदाहरणोंमें हमने देखा कि एक मामलेमें हिन्दुस्तानके पास जितने डौलर थे उनमें २० लाख डौलर कम हो गये क्योंकि हिन्दुस्तानी उद्योगपतिने अमरीकासे कैमरा बनानेकी मशीनें खरीदीं और दूसरे मामलेमें हिन्दुस्तानके डौलर-कोशमें २१ लाख डौलर बढ़ गये क्योंकि अमरीकन व्यापारीने इतने मूल्यके जूट और चाय हिन्दुस्तानसे खरीदे। इन दोनों खातोंका जमा-खर्च करें तो पायेंगे कि हिन्दुस्तानमें अमरीकासे एक लाख डौलर अधिक आये या अर्थशास्त्रकी भाषामें हिन्दुस्तानका व्यापार-सन्तुलन, 'बैलेंस ऑफ़ [illegible] से हिन्दुस्तानके पक्षमें है—या कहें कि १ [illegible] अमरीकाके विपक्षमें है।

● भारतवर्षमें व्यापार-सन्तुलनकी स्थिति

ऊपर हमने जो १ लाख डौलरका व्यापार-सन्तुलन हिन्दुस्तानके पक्षमें [illegible] किया, वह तो केवल एक उदाहरण है। वास्तवमें आज स्थिति यह है कि व्यापार-सन्तुलनके अंक हमारे देशके विपक्ष में हैं। यानी हमें डौलर देने अधिक हैं, लेने कम हैं। व्यापार-सन्तुलनका हिसाब देखते समय यह देखना

होता है कि हमारे देशने दूसरे देशोंको कितना माल बेचा अर्थात् निर्यात (एक्सपोर्ट) किया और दूसरे देशोंमें हमारे यहाँ कुल कितने मालका आयात (इम्पोर्ट) हुआ। जितनी अधिक संख्यामें और जितने अधिक मूल्यका माल हम दूसरे देशोंको बेचेंगे उतनी ही अधिक हमारी विदेशी मुद्राकी पूँजी बढ़ेगी; जितना अधिक हम खरीदेंगे उतनी ही अधिक हमारी विदेशी मुद्राकी पूँजी घटेगी। पारिभाषिक (टैक्निकल) शब्दोंमें हम यों कहें कि जहाँ निर्यात (एक्सपोर्ट) करनेसे हमारी विदेशी मुद्रा (फ़ौरेन एक्सचेंज) बढ़ती है और व्यापार-सन्तुलन (बैलेंस आफ़ ट्रेड) हमारे पक्षमें होता है, वहाँ आयात (इम्पोर्ट) करनेसे हमारी विदेशी मुद्रा घटती है और व्यापार-सन्तुलन हमारे विपक्षमें होता है।

हिन्दुस्तानमें स्थिति यह है कि हमारा एक्सपोर्ट (निर्यात) व्यापार कम है और इम्पोर्ट (आयात) व्यापार ज्यादा। नीचेकी तालिका देखिए—

वर्ष	आयात (करोड़ रुपये)	निर्यात (करोड़ रुपये)	प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन (करोड़ रुपये)
१९५४	६१९	५६३	— ५६
१९५५	६७३	६०८	— ६५
१९५६	८११	६२०	—१९१
१९५७	१०२५	६४३	—३८२
१९५८	६२८	४८१	—१४७

(जनवरीसे अक्तूबर तक)

● व्यापार-सन्तुलनका लेखा या शोधन सन्तुलन (बैलेंस आफ़ पेमेण्ट)

किसी भी महीनेके अन्तमें जब कोई राष्ट्र यह लेखा बनाता है कि उसने या उसके नागरिकोंने व्यापार आदिके खातेमें विदेशोंको कितना

रुपया दिया और इन खातोंमें कितना रुपया पाया तो जो शेष रक़म बचती है वह व्यापार-सन्तुलनका लेखा कहलाता है जो या तो बढ़ती (सर्प्लस) के रूपमें होता है या घटती (डिफ़िसिट) के रूपमें । इस प्रकार विदेशोंके लेन-देनके खातेमें जब कमी पड़ती है तो उस कमीको पूरा करनेके लिए देश अपने विदेशी परिसम्पद (फ़ौरेन रिज़र्व) से रुपया निकालता है ।

● विदेशी परिसम्पद (फ़ौरेन रिज़र्व) की स्थिति

विदेशी परिसम्पद या 'फ़ौरेन रिज़र्व' में वह निधि है जिसमें किसी भी देशका केन्द्रीय सरकारी बैंक विदेशी मुद्राएँ जमा रखता है और देश-विदेशसे खरीदे हुए सोनेका भण्डार रखता है । इस कोषका रूपान्तरण (कन्वर्शन) करके किसी भी अन्य देशकी मुद्रामें बदला जा सकता है ताकि उस देशका भुगतान कर सकें । भारतवर्षमें जो विदेशी मुद्रा हमारे रिज़र्व बैंकमें अधिक मात्रामें अब तक रही वह ब्रिटिश पाउण्ड है । एक निश्चित संख्याके ब्रिटिश पाउण्डोंके बदलेमें डौलर भी मिल जाते हैं । जैसा कि ऊपर कहा गया है, व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल होनेकी अवस्थामें विदेशी मुद्राओंका जो भुगतान करना पड़ता है उन्हें आवश्यकतानुसार विदेशी परिसम्पदके कोषमेंसे लिया जाता रहा है । आज स्थिति यह है कि हमारे रिज़र्व बैंककी विदेशी परिसम्पद जो १९५६ के अन्तमें ५३० करोड़ रुपये की थी वह घटकर अब केवल २०६ करोड़ रह गयी है । देशके रिज़र्व फ़ण्डमें कमी होनेसे देशकी साखको धक्का लगता है और देशकी मुद्राका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय एक्सचेंज मार्केटमें गिर जाता है ।

● विदेशी मुद्रा कम क्यों हो गयी ?

ऊपर आयात-निर्यात (इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट) के अंक दिये गये हैं और बताया गया है कि चूँकि हमारे देशने विदेशोंसे अधिक माल खरीदा और उसका भुगतान विदेशी मुद्रामें करना पड़ा इसलिए हमारे यहाँ विदेशी मुद्राकी कमी हो गयी, यहाँ तक कि विदेशी परिसम्पद (रिज़र्व फ़ण्ड)

भी बुरी तरह घट गया। तो, हमने विदेशोंसे इतना माल मँगाया ही क्यों, हमने अपना हाथ क्यों नहीं थामा? हाथ हम इसलिए नहीं थाम सके क्योंकि हमारे देशमें हर साल ५० लाख आदमी बढ़ते हैं, उन्हें खाना चाहिए। हमारे देशमें अन्नकी उपज कम है, इसलिए हमें विदेशोंसे अनाज मँगाना पड़ा और बदलेमें डौलर और पाउण्ड देने पड़े, इससे हमारा विदेशी मुद्राका कोष रीता हो गया। दूसरे यह कि पिछले ७-८ सालसे हमारे देशमें पंचवर्षीय योजनाएँ चल रही हैं—यह दूसरी पंचवर्षीय योजना है—जिनके अन्तर्गत हमने बिजलीके कारखाने, सीमेण्टके कारखाने; लोहे और इस्पातके कारखाने खड़े किये, रेलें और इन्जिन बनाने शुरू किये, इन सबके लिए हमें विदेशोंसे बड़ी-बड़ी मशीनें खरीदनी पड़ीं और उनके लिए विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ी। नतीजा यह हुआ कि हमारा फ़ौरेन-एक्सचेंजका कोष खाली हो गया।

● विदेशी मुद्राकी कमीको दूर करनेके लिए हमें क्या करना चाहिए?

यदि ऊपर जो कुछ कहा गया है वह स्पष्ट है तो इस बीमारीका उपचार जिन उपायोंसे हो सकता है उनके बारेमें सोचना कठिन नहीं होना चाहिए। कुछ उपाय ये हैं:

हमें चाहिए कि विदेशोंको जिन चीजोंकी आवश्यकता है और जो विशेष रूपसे हमारे देशमें उत्पन्न होती हैं, या तैयार होती हैं उन्हें हम अधिक-से-अधिक मात्रामें एक्सपोर्ट करें और विदेशी मुद्रा कमायें।

अधिक-से-अधिक एक्सपोर्ट करनेके लिए जरूरी है कि हम उन चीजों-का अधिक-से-अधिक उत्पादन करें और उन चीजोंका इस्तेमाल कम करें। उदाहरणके लिए, विदेशोंमें हमारे यहाँकी चीनीकी माँग है। तो क्या फिर यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि पिछले वर्ष केन्द्रीय सरकारने बहुत-से [illegible] बन्द क्यों कर दिये या उनके खुलनेके घण्टे कम क्यों कर दिये थे।

साथ-ही-साथ, हमें चाहिए कि विदेशोंसे हम केवल वही चीजें खरीदें जो हमारे देशके विकासके लिए आवश्यक हों। हमें १०० करोड़ रुपये खर्च करके यदि 'कैपिटल गुड्स' मँगाने पड़ें तो मँगायें, पर १०० रुपयेके इत्र या खुशबूदार तेल न मँगायें क्योंकि 'कैपिटल गुड्स' वह हैं—मसलन लोहेके कारखानेके लिए बड़ी-बड़ी मशीनें—जो हमारे हाथमें आते ही हमारी पूँजी बन जाते हैं और आगे उन्हींसे हम खुद लोहेके कारखाने बनाकर ज्यादा पूँजी कमायेंगे, बेकारोंको काम देंगे और विदेशोंमें लोहा भेजकर विदेशी मुद्रा कमायेंगे। जब कि इत्र या खुशबूदार तेल 'कन्ज्यूमर गुड्स' हैं—उपभोग सामग्री—इत्र सूँघा और हवामें गायब! वह देशकी पूँजी कैसे बनेगा?

सबसे जरूरी बात यह कि हम इतना अनाज पैदा करें कि विदेशोंका मुँह न ताकना पड़े, विदेशी मुद्रा देकर उनसे अनाज न खरीदना पड़े। यह केवल विदेशी मुद्रा बचानेका ही प्रश्न नहीं है, हमारे आत्म-सम्मानका भी प्रश्न है!

● मुद्रा-स्फीति (इन्फ्लेशन) का विदेशी मुद्रासे क्या सम्बन्ध है ?

इन्फ्लेशनका अर्थ है फुलाव, जैसे गुब्बारेमें हवा भरकर उसे फुला देते हैं। गुब्बारा वास्तवमें जितना बड़ा है फूलनेपर उससे बड़ा दिखायी देने लगता है। इसी तरह जब किसी देशमें चीजोंके दाम अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं तो वहाँ इन्फ्लेशन हो जाता है। चीजोंके दाम इसलिए बढ़ते हैं कि जरूरतके हिसाबसे उस चीजका उत्पादन कम है और माँग बहुत है। माँग बहुत है, का एक विशेष कारण यह भी है कि खरीदार ज्यादा हैं, अर्थात् ज्यादा लोगोंके हाथमें इतना पैसा है कि खरीदारोंमें कम्पटीशन हो जाये और बेचनेवाला अपना सीमित माल उन ग्राहकोंके हाथमें देना चाहे जो ज्यादा दाम देनेको तैयार हों। जिस चीजकी देशमें कमी है, उसे ज्यादा दाम देकर विदेशसे मँगानेके लिए

भी लोग तैयार हो जायेंगे और इस तरह इन्फ्लेशन या मुद्रास्फीतिका यह परिणाम होता है कि विदेशी मुद्रा हमें अपेक्षाकृत ज्यादा खर्च करनी पड़ती है। इन्फ्लेशनकी मार दुहरी है, अर्थात् यह भी होता है कि जब हम विदेशी मुद्राके उपार्जनके लिए अपना माल बाहर भेजते हैं तो देशमें उस मालकी कमी हो जाती है और देशके बाजारोंमें उसके दाम बढ़ जाते हैं। इसीलिए मुद्रा-स्फीतिको रोकनेका सही उपाय यह है कि उत्पादन अधिक हो ताकि देशमें ही वस्तुओंकी कमीके कारण इन्फ्लेशन न हो और बाहर माल भेजकर विदेशी मुद्रा कमायी जा सके।

● विदेशी मुद्रा कमानेके लिए देशी मुद्राकी साख बनाये रखना क्यों आवश्यक है ?

किसी भी देशकी अर्थ-नीतिका एक बड़ा उद्देश्य यह है कि वह अपने देशके सिक्केकी क़ीमतको जितना ऊँचा बनाये रख सके, बनाये। इसके लिए आवश्यक है कि विदेशी लोग हमारे देशका माल खरीदनेके लिए अधिक इच्छुक हों और बदलेमें ज्यादा विदेशी मुद्राएँ देनेको तैयार हों। किन्तु यदि हमारे देशमें इन्फ्लेशनकी वजहसे रुपयेका मूल्य गिर गया है, यानी १०० रुपयेमें आज हमें तोल या नाप या वज़नमें उतना माल नहीं मिलता जितना सालभर पहले मिलता था तो इसका अर्थ है कि हमारे रुपयेकी असली क़ीमत गिर गयी है और इसलिए यदि हम इन गिरे हुए मूल्यवाले १०० रुपये देकर विदेशी माल या विदेशी मुद्रा खरीदना चाहेंगे तो हमें पहलेकी अपेक्षा १०५ या ११० रुपये देने पड़ेंगे और इस तरह विदेशी मुद्रा मँहगी हो जायेगी। देशमें इन्फ्लेशन न हो और साथ ही हमारी विदेशी [illegible] (फारेन रिजर्व) की राशि बढ़ती जाये—अर्थात् रिजर्व बैंकके पास ज्यादा सोना और ज्यादा विदेशी मुद्राका संग्रह होता जाये तो हमारे रुपयेका मूल्य नहीं गिरेगा, हमारे व्यापारकी साख बनी रहेगी और हमें अपने रुपयोंके बदलेमें अधिक विदेशी मुद्रा मिल सकेगी।

● ●

विज्ञान-यात्राके चरण-चिह्न

हजारों-लाखों साल पहले किसीने देखा होगा कि पत्थर यदि नोकीला हो और नोककी ओरसे प्रहार किया जाये तो प्रहार खानेवालेको विशेष चोट लगती है, साधारण गोल पत्थरकी अपेक्षा कहीं अधिक। उसने देखा होगा कि यदि इस तरहके अनेकों नोकदार पत्थरोंको लगातार फेंका जाये तो चोट खानेवाला पशु या मानव क्षत-विक्षत हो जाता है और आत्म-समर्पण कर देता है। तो क्या पत्थरमें नोक पैदा नहीं की जा सकती? उसने बहुत सोचा होगा, कुछ प्रयोग किये होंगे और अन्तमें पाया होगा कि यदि पत्थरपर पत्थरकी चोट एक विशेष ढंगसे की जाये तो जो पत्थर टूटता है (और, यह सम्भव है कि कभी-कभी दोनों ही पत्थर टूट

जाते हैं ?) उसमें प्रायः नोक पैदा हो जाती है। हो सकता है कि इस प्रकार ही संसारमें पहली बार 'अस्त्र'का आविष्कार हुआ हो। अस्त्रका अर्थ ही है, 'वह जिसे फेंककर प्रहार किया जाये'। (नामकरण उसी समय नहीं हुआ था, यह तो सभ्यताके विकासमें काफ़ी बादकी प्रक्रिया है।)

उन आदिम व्यक्तियोंने अक्सर यह भी देखा होगा कि पत्थरपर पत्थर-की चोट पड़ती है तो चिनगारी निकलती है ! चिनगारीका ताप और जलन और आकृति देखकर उन्हें प्रतीति हुई होगी कि यह कुछ वैसा ही तत्त्व है जो विशाल पैमानेपर, पेड़ोंके झुंडमें, पर्वतोंके शिखरपर, समुद्रोंके हृदयमें कभी-कभी प्रज्वलित हो उठता है; जो भयावह है और जो विनाशकारी है। किन्तु उस तत्त्वका अंश आदमीके हाथों, आदमीकी इच्छासे उत्पन्न किया जा सकता है, यह तो बड़ा चमत्कार है ! धीरे-धीरे, न मालूम कितने अधिक वर्षोंके प्रयोगोंके बाद, उस चिनगारीको सूखी पत्तियोंमें लपेटकर, सूखे काष्ठमें स्थानान्तरित करनेका आविष्कार सिद्ध हुआ होगा। उस अग्निके संवर्द्धनकी, उसकी रक्षाकी प्रक्रिया मनुष्यकी बुद्धिकी इतनी बड़ी उपलब्धि थी कि मानव-जाति गद्गद हो गई होगी। उन ध्रुवीय क्षेत्रोंका दारुण शीत और अग्निकी यह प्राणदायिनी शिखा ! कोई आश्चर्य नहीं जो कालान्तरमें संस्कृति और नागरिकता अग्नि-निर्भर। वैदिक ऋषिने इसी अग्निके स्तवनसे प्रारम्भ किया : **अग्निमीळे पुरोहितम् !** और लग-भग बीस हजार साल बाद, हमारी इस बीसवीं सदीके एक मानवने पुनः गद्गद होकर कहा :

खुदा तूने रात बनाई, मैंने चिराग़ बनाया !

—इक़बाल

किन्तु, बीसवीं सदीके आदमीकी बात अभी अप्रासंगिक है। बात हो रही थी अग्निके आविष्कारकी। शताब्दियाँ बीतती गईं और सभ्यता-के विकासके साथ-साथ अग्निके विविध उपयोगोंकी शृंखला बढ़ती गई।

अग्निमें धातुएँ डाली गईं और उनसे औजार बनाये गये, भोजन पकाया गया, पानी उबाला गया····

हाँ, पानी उबाला गया ! और शताब्दियोंके बाद शताब्दियाँ देखती गईं कि पानी उबलता है तो भाप बनती है, और भाप बनती है तो ऊपरका ढका हुआ पात्र उछलता है। अर्थात् भापमें शक्ति होती है। प्राचीन विज्ञानमें बाष्पशक्तिका उपयोग भी हुआ होगा, किन्तु आज कोई भी वैसी परम्परा प्रत्यक्ष नहीं है, अतः बातकी कड़ी हमें आधुनिक युगमें ले आती है जब कि जेम्सवाटने सन् १७६३ के बाद ऐसे एंजिनकी कल्पनाको रूप दिया जो बाष्पसे चालित हो और जो गाड़ी खींचे। १८२९ में जार्ज स्टीफ़ेन्सनने आधुनिक ढंगका ऐसा एन्जिन बनाया जिसमें ऊँचे दाबपर बहुत गर्म भाप पैदा करनेवाला बायलर था और जो तीस मीलकी 'सिर भन्ना देने वाली' रफ़्तारसे भाग सकता था। बायलरोंमेंसे भापको पाइपों और नलियों द्वारा प्रवाहित करके उसका शक्तिके रूपमें प्रयोग करना, उससे बिजली उत्पन्न कर सकना—यही उन्नीसवीं शताब्दीका महान् वैज्ञानिक आविष्कार था जिसने औद्योगिक क्रान्तिको जन्म दिया था और अब जिसने धीरे-धीरे सारे विश्वमें मनुष्यकी जीवन-धाराको बदल दिया है। अग्निके आविष्कारसे लेकर भापके द्वारा बिजलीके उत्पादन तक पहुँचते-पहुँचते कितना अधिक समय लग गया, आज पिछली एक शताब्दीकी वैज्ञानिक उपलब्धियोंके सन्दर्भमें यह बात सोचते हैं तो स्तम्भित रह जाना पड़ता है।

पिछली एक शताब्दीकी वैज्ञानिक उपलब्धियोंकी नामावली लम्बी हो जायेगी। पिछले ३०-३५ वर्षोंकी उपलब्धियाँ ही ऐसी हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारोंकी दूर-व्यापी दौड़को स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष कर देती हैं : जैसे, टेलीविज़न, नियन्त्रित दूरगामी प्रक्षेपास्त्र (गाइडेड मिसाइल), लोहेके फेफड़े, रेडार, जैट एंजिन, नाइलन, तीन आयामोंवाले (थ्री-डी) चल-चित्र, एटम-शक्तिसे चलनेवाले जहाज आदि। हमारी पीढ़ी मानव-इतिहासके

विशाल परिप्रेक्ष्यमें जिन ४ दिनोंकी ४ घटनाओंके लिए विशेष रूपसे याद की जायेगी, वे चारों घटनाएँ एक ऐसे युगका श्रीगणेश इंगित करती हैं जिसका प्रभाव आगामी कालके सुदीर्घ प्रसारमें व्याप्त रहेगा और इसे या तो हम मानव इतिहासका 'स्वर्ण-युग' कहेंगे या 'मृत्यु-युग'। ये चार तिथियाँ हैं :—

१. ६ अगस्त १९४५ : जिस दिन हिरोशिमापर एटम बम छोड़ा गया था।

२. ४ अक्तूबर १९५७ : जिस दिन आदमी द्वारा बनाये गये पहले उपग्रह, स्पूतनिक प्रथम, ने पृथ्वीके चारों ओर अन्तरिक्षमें, चक्कर काटना शुरू किया।

३. ३ जनवरी १९५९ : जिस दिन आदमी द्वारा बनाया गया पहला ब्रह्माण्ड रॉकेट, ल्युनिक प्रथम, चन्द्रमाके गुरुत्वाकर्षणको पार कर, सूर्यके चारों ओर चक्कर काटने लगा।

४. १४ सितम्बर १९५९ : जिस दिन ब्रह्माण्ड राकेट, ल्युनिक द्वितीय, ने २,४०,००० मीलकी यात्रा ३७ घण्टेमें समाप्त करके चन्द्रमाके तलसे सम्पर्क स्थापित किया।

अब केवल उस पाँचवें दिनकी प्रतीक्षा है जब पहला मनुष्य चन्द्रमाके अन्दर पहुँचेगा और उसे सुरक्षित वापिस लौटा लिया जायेगा। लगता है कि वह दिन अब अधिक दूर नहीं है :

तदिदं ब्रह्म, त्वमेव ब्रवीमि

'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।'

—ब्रह्म यही है, केवल तुम्हें ही मैं इसका भेद बता रहा हूँ : "मनुष्यसे श्रेष्ठ यहाँ और कुछ भी नहीं है!"

'मनुष्यसे श्रेष्ठ यहाँ और कुछ भी नहीं है'—एक ओर अतीतकी यह उक्ति प्रतिदिन अपनी सत्यताको प्रमाणित कर रही है, और दूसरी

ओर मनुष्य अपनी संकुचित स्वार्थ-दृष्टि, अपने दुराग्रह, अपने अन्धविश्वास और अज्ञानकी अँधेरी कारासे मुक्त होता नजर नहीं आ रहा है। क्या ऐसे मानवको विश्वकी सर्वोत्तम कृति और जल-थलका स्वामी माना जाये ?

यही आदम है सुल्ताँ बह्‌रो-बर[1] का ?
कहूँ क्या माजरा इस बे-बसर[2] का !
न ख़ुद-बीं,[3] न ख़ुदा-बीं, न जहाँ-बीं
यही शहकार[4] है तेरे हुनर का ?

—इक़बाल

इस विभ्रम और विरोधाभाससे मुक्त होनेका उपाय क्या है ? कितने-कितने अवतार आये, पीर-पैगम्बर आये, साधु-सन्त आये, और कभी-कभी ऐसा लगा भी (इतिहासकी साक्षीके आधारपर) जैसे धर्मने आदमीको सदाके लिए ऊँचा उठा दिया, जैसे महात्माओंका प्रभाव कारगर हुआ और सतयुगका प्रादुर्भाव हुआ किन्तु समय हर बार पलटा खाता गया और आँतरे-आँतरे पुण्य और पाप, शान्ति और युद्ध, राग और रक्त, हिंसा और अहिंसा फूलते-फलते रहे। अस्तित्व न शुभ वृत्तियोंका समाप्त हुआ; न अशुभ प्रवृत्तियोंका। एक बात कहनेका मन होता है। जो बात आज तक अकेला धर्म नहीं कर पाया उसे आज विज्ञान मनुष्यकी विवेक-बुद्धि जगाकर कर सकेगा, ऐसा नजर आ रहा है। इसीलिए धर्मको, जैसा कि होना चाहिए, विवेक-बुद्धिके रूपमें ही अपनेको प्रस्तुत करना पड़ेगा और विज्ञानके साथ गठ-बन्धन करना पड़ेगा।

आज विज्ञानकी शक्ति न किसी क्षेत्र-विशेष तक सीमित है, न राष्ट्र-विशेष तक। एटम बम और हाइड्रोजन बम दोनों विरोधी दलोंके पास

---

१. जल-थल, २. दृष्टिहीन, ३. अपने आपको देखने-पहचानने वाला, ४. 'मास्टरपीस' (श्रेष्ठ रचना)।

आज इतनी अधिक संख्यामें मौजूद हैं कि उनका उपयोग अब अपनी 'विजय' के लिए कोई भी दल नहीं कर सकेगा। इन घातक अस्त्र-शस्त्रों-की मार इतनी दूरव्यापी है कि ये केवल 'पराजय'—समस्त मानवताकी पराजय—के प्रतीक बन गये हैं। एटम और हाइड्रोजन बमका अन्वेषण करके, उनकी शक्तिकी सार्थकता सिद्ध करके, उन्हें निरर्थक बना देना ही आधुनिक विज्ञानकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। आदमीके भाग्यका यह बहुत बड़ा व्यंग्य है कि युद्ध भयने उसे विवेकी बननेके लिए मजबूर किया है। भय कहें, चाहे प्राणोंका मोह कहें, दार्शनिक दृष्टिसे बात एक ही है।

आज दोनों कैम्प समझ गये हैं कि युद्ध चल तो सकता है, किन्तु केवल शीत-युद्धके रूपमें। और, शीत-युद्ध जैसी बुजदिलाना, कमीनी और उबानेवाली चीज और कोई दूसरी नहीं। तो फिर, विवेक कहता है, एटम शक्तिके नये अक्षय भण्डारको क्यों न समूची मानवसृष्टिके हितमें नियोजित किया जाये? शक्तिका यह महान स्रोत जिस वेगसे प्रवाहित होगा, उसे कौन-सा राष्ट्र अब अपनी दो चुल्लुओंमें रोककर रख सकेगा? वह तो सारी धरापर लहरायेगा—बारहों महीने मनचाही फसलें उगायेगा, सुख-सुविधाकी सामग्री बनानेवाली मशीनोंको चलायेगा, बीमारियाँ दूर करनेके लिए डाक्टरोंको नये समस्थानिक (आइसोटोप्स) देगा, स्वच्छ घर; सुन्दर वस्त्र, ज्ञानके साधन, मनोरंजनके आयोजन, सब कुछ आदमीको घर बैठे मिलेंगे। वह अन्तरिक्षमें उड़ेगा, ग्रहोंपर जायेगा, हवामें महल बनायेगा, यन्त्र-दैत्योंसे सेवा करवायेगा, परियोंको जन्म देगा! बड़ी-बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ हैं ये जो सत्यको चुनौती दे रही हैं कि देखें दोनोंमें कौन अधिक सच है!

मनुष्यके जब अभाव दूर होंगे, जब जीवनकी अनवरत निराशाओंसे उसे मुक्ति मिलेगी, जब विज्ञानके बूतेपर स्वस्थ और सुखी जीवन जो अधिकारसे उसे मिलेगा तो, आशा करनी चाहिए कि उसे दृष्टिका सन्तुलन

मिलेगा और जीवनके प्रति उसकी आस्था बढ़ेगी। आज मानव जातिकी समग्रता और बन्धुत्व मात्र-दार्शनिक क्षेत्रकी सद्भावनाएँ नहीं रहीं, विज्ञानके व्यावहारिक यथार्थ हो गये हैं। फिर भी आदमी विज्ञानके प्रति सचेत नहीं है, सचेष्ट नहीं है। विज्ञानको निष्क्रिय रूपसे ग्रहण करना एक बात है और सक्रिय रूपसे उसे आत्मसात् करना दूसरी बात है। विज्ञान निष्पक्ष दृष्टि देता है। विज्ञानकी प्रक्रिया ही सत्यके अन्वेषणकी प्रक्रिया है, साधना और समर्पणकी प्रक्रिया है। विज्ञानके क्षेत्रमें आज भी हम ज्ञानसे कितने दूर हैं! हम ही क्या चीनने सबसे पहले अक्षरोंको छापनेकी विधि निकाली, किन्तु उसने वर्णमालाकी वैज्ञानिक आवश्यकताको केवल दो साल पहले पहचाना। लिपिने और मुद्रणने मनुष्यकी सार्थक ध्वनियोंको देश और काल ('स्पेस' और 'टाइम') के दो नये आयाम दिये, इसे यदि हम विज्ञानकी परिभाषामें न समझना चाहें और अपनी 'श्रद्धा' में अडिग रहें कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि, अनन्त हैं, और शब्द जो वेदमें दर्ज है वह 'ब्रह्म' है तो हम हवाई जहाजमें बैठकर, टेलीविजनपर राकेटकी उड़ानका दृश्य देखते हुए भी विज्ञानसे अछूते और असम्पृक्त रह जायँगे। दूसरी ओर, यदि विज्ञानने हमें इतना भौतिकवादी बना दिया कि मानवताके उच्छ्वासोंका, मानवता ही क्या, फूल-पत्तियोंके उच्छ्वासोंका स्पन्दन हमने अपने हृदयमें न सुना तो हमारा जगदीशचन्द्र बोसका नाम लेना निरर्थक गया और आइन्स्टाइनके उस फार्मूलेका अध्ययन बेकार गया जो संहति और ऊर्जा (मैटर और एनर्जी) के पारस्परिक रूपान्तरणकी सिद्धिके द्वारा अतीन्द्रिय प्राणलोककी सम्भावनाओंसे साक्षात्कार कराता है।

अभी कल ही दिल्लीमें टेलीविज़न स्टूडियोका उद्घाटन राष्ट्रपति द्वारा हुआ। बहुत बड़ी घटना है यह हमारे देशके लिए। यदि पूछा जाये कि इस महान् घटनाने हमारे देशके जन-मानसको किस रूपमें प्रभावित किया, तो हमारे पास इसका क्या उत्तर होगा? रेडियो, सिनेमा और स्टेजकी आमोद-प्रमोदकी शृङ्खलामें एक और कड़ी जुड़ गई! विज्ञानके इन

आधुनिक उपकरणोंने यदि हमारे यहाँके नर-नारियोंके, युवकों और बालकोंके मनको ऊँचा न उठाया, उनकी चेतनाको परिष्कृत न किया, उनकी जिज्ञासाको जागृत न किया तो ये उपकरण फिर दूसरा काम करेंगे, जो इन भावनाओंके प्रतिकूल हैं। यही कारण है कि विनोबा और दूसरे सन्त पाँव-पाँव भ्रमण करते हैं, छोटेसे वृत्तमें बैठकर बात करते हैं, हृदयसे-हृदयको सम्पृक्त करते हैं। तभी कुछ प्रभाव उत्पन्न होता है, और वह भी पूरी तरह नहीं हो पाता। स्टेजपर, रजत-पटपर, रेडियोपर, टेलीविजन सैटपर जो-जो व्यक्तित्व आते हैं, वे वही दे जाते हैं, जो उनके पास है। विज्ञान उस व्यक्तित्वका सम्पर्क हज़ारों प्राणियोंसे हज़ारों मील पर्यन्त एक क्षणमें करवा देता है, अपने काममें वह तत्पर है, सफल है, किन्तु व्यक्तित्व बनाना होता है आदमीको स्वयं अपने प्रयत्नसे। खण्डित व्यक्तित्वके खण्डित प्रभावके लिए विज्ञानका अस्तित्व उत्तरदायी नहीं, समुचित जीवन-दर्शनका अनस्तित्व उत्तरदायी है। ● ●